पढ़ने योग्य उत्तमोत्तम उपन्यास और कहानियाँ

पुस्तक	मूल्य
रंगभूमि (दोनो भाग)	५), ६)
बहता हुआ फूल	२॥), ३)
हृदय की परख	१), १॥)
चित्रशाला (दो भाग)	३।), ४।)
हृदय की प्यास	१॥), २)
मिस्टर व्यास की कथा	२॥), ३)
मदन-निकुंज	॥), १।)
प्रेम-प्रसून (प्रेमचंद)	१=), १॥=)
गढ़-कुंडार	२॥), ३)
प्रेम-गंगा	१), १॥)
गोरी	१), १॥)
मंजरी	१।), १॥।)
पतन	१॥।), २।)
जब सूर्योदय होगा	१), १॥)
विदा	२॥), ३)
भाई	लगभग १)
प्रेम-परीक्षा	॥=), १।=)
सीधे पंडित	१॥)
अबला	१), १॥)
मधुपर्क	१॥), २)
मा (दो भाग)	३), ४)
प्रेम-पंचमी	।), १)
ढेन	१), १॥)
अप्सरा	लगभग १॥)
गिरिबाला	१), १॥)
कर्म-फल	१॥।), २।)
तूलिका	१।), १॥।)
अश्रुपात	१), १॥)
जासूस की डाली	१॥), २)
विचित्र योगी	१), १॥)
पवित्र पापी	३), ३॥)
मृत्युंजय	॥।), १।)
पाप की ओर	१), १॥)
पतितोद्धार	१≡)

गंगा-पुस्तकमाला का ११८वाँ पुष्प

कर्म-मार्ग

(उपन्यास)

लेखक

स्व० मौलाना नजीरअहमद

अनुवादक

दुर्गाविनायकप्रसाद एम्० ए०, एल्०-एल्० बी



प्रकाशक

गंगा पुस्तकमाला-कार्यालय

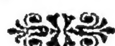
प्रकाशक और विक्रेता

लखनऊ

प्रथमावृत्ति

सजिल्द २)] सं० १९८७ वि० [सादी १॥)

प्रकाशक
श्रीदुलारेलाल भार्गव
अध्यक्ष गंगा-पुस्तकमाला-कार्यालय
लखनऊ



मुद्रक
श्रीदुलारेलाल भार्गव
अध्यक्ष गंगा-फाइनआर्ट-प्रेस
लखनऊ



श्रीदुर्गाविनायकप्रसाद बाबू बनारसीलालजी

मैं इनका भक्त बालक हूँ, यह हैं धर्मात्मा मेरे ;

और यह परमात्मा मेरे ।

पूज्य पिताजी

के

चरण-कमलों में

आदर-पूर्वक समर्पित



स्वर्गीय ख़ानबहादुर शम्सुलउलमा डॉक्टर हाफ़िज़ नज़ीरअहमद
एल्-एल्० डी०, डी० ओ० एल्०

परिचय

उर्दू-संसार में स्व० मौ० नजीरअहमद साहब उच्च कोटि के लेखक हुए हैं। आपका सिक्का समस्त उर्दू-लेखकों पर जमा हुआ है। यदि कोई उर्दू सीखना चाहता है, तो उसे उचित है कि उक्त लेखक महाशय की पुस्तकों का अवलोकन करे।

इनकी रचनाओं में "तोवतुन्नसूह" अति उत्तम पुस्तक मानी गई है। यह धार्मिक, सामाजिक तथा सामयिक विचारों से परिपूर्ण है। इसमें दिखलाया गया है कि एक धर्म च्युत परिवार का क्योंकर सुधार हुआ। इसमें बच्चे बूढ़े, स्त्री-पुरुष सभी की शिक्षा के विषय हैं।

"कर्म-मार्ग" इसी "तोवतुन्नसूह"-नामक पुस्तक का भाषांतर है। परंतु इसके अनुवाद में मैंने अपने मतानुसार थोड़ा-बहुत परिवर्तन भी किया है। मूल-पुस्तक यद्यपि सबके हित की शिक्षाओं से परिपूर्ण है, तो भी उसका अधिकांश इसलाम-धर्म की बातों से सुसज्जित है। इसलिये अनुवाद में मैंने इसलाम-धर्म की जगह हिंदू-धर्म की बातों का समावेश किया है, और पात्रों के नाम भी हिंदू कर दिए हैं।

कहीं-कहीं मैंने अपनी ओर से इसमें कुछ राष्ट्रीयता के भाव भी जोड़ दिए हैं और सुबीते के अनुसार कहीं-कहीं मूल-ग्रंथ से मुझे हटना भी पड़ा है। तात्पर्य यह कि इसका भाषांतर बिलकुल ही स्वतंत्र रूप से किया गया है। इस विषय में मैंने स्व० मौ० नज़ीर-अहमद साहब के चिरंजीव सुयोग्य मौ० बशीरअहमद साहब (रिटायर्ड कलेक्टर निज़ाम हैदराबाद) से अनुमति भी ली है। उन्होंने

इस राय को पसंद किया और मुझे सहर्ष आज्ञा दे दी। इसके लिये मैं उक्त महाशय को कोटिशः धन्यवाद देता हूँ।

इस हेतु यह स्वतंत्र भाषांतर है, इसलिये इसमें त्रुटियाँ भी होंगी, पाठक महोदय उन्हें बताकर कृतार्थ करेंगे, ताकि दूसरे संस्करण में उनका संशोधन किया जा सके।

यह एक दिल्ली-निवासी परिवार की कहानी है। यद्यपि ब्राह्मण-कुल है, तथापि वह की रहन-सहन का प्रभाव स पर पड़ा है। ईश्वर जिस परिवार को बचाना चाहता है, इसी प्रकार बचाता है। हे दीनानाथ, हम सबको भी अपनी ज्योति दिखाकर सन्मार्ग पर लाइए। जर्जरित भारतवर्ष को डूबने से बचाइए।

दुर्गाविनायकप्रसाद

कर्म-मार्ग

पहला परिच्छेद

सब का समय नियत है।

कुछ दिन की बात है, दिल्ली मे एक साल हैज़ा की बीमारी बड़े जोर से चली। दिन-पर-दिन यह बीमारी अग्नि की लपटो के समान नगर मे फैल गई। इसका जोर इतना बढ़ा कि प्रत्येक महल्ले में हाहाकार मच गया। चालीस-चालीस पचास-पचास आदमी रोज मरने लगे। जिधर देखिए सन्नाटा छा रहा है। दिन-दोपहर शहर काटे खाता है। जिस बाजार को यह दशा थी कि लोगों के कधे छिलते थे, आज वहाँ एक चिड़िया का बचा भी दिखाई नहीं देता। लोगो का चलना-फिरना बंद हो गया—कहाँ की भेंट और कहाँ की मुलाक़ात ? जिधर सुनिए रोने की आवाज़ आ रही है। जिसको देखिए, अपना ही दुःख रो रहा है। कोई डॉक्टर-डॉक्टर चिल्ला रहा है, कोई वैद्य-वैद्य पुकार रहा है, कोई अलग दुःख से कराह रहा है। तात्पर्य यह कि कोई भी घर इस बीमारी से बचा न थो। लोगों की यह दशा थी कि जिसे प्रातःकाल हट्टा-कट्टा देखा,

दोपहर होते-होते सुना कि उसे घर पहुँचते ही दो-एक कै हुए और दो-चार दस्त आए कि बेचारा परलोक को सिधारा। किसी को वैद्य बुलाने का अवसर मिला, किसी को वह भी नही।

केवल दो ही महीने मे शहर की यह दशा हो गई कि आधे से अधिक मनुष्य मृत्यु के हवाले हो गए। सैकड़ों औरतें विधवा हो गई, हजारो बच्चे अनाथ हो गए। केवल एक शिवदत्तजी का घर बाकी था जिनका हाल हम नीचे लिख रहे हैं।

इनके घर में भी यह बात न थी कि इस बीमारी ने प्रवेश न किया हो। इनके यहाँ भी बूढ़े-बच्चे मिलाकर तीन-चार लोगो का स्वर्गवास हो चुका था। किंतु इनके घर की वह दशा न थी, जो और घरों की थी।

उन दिनो वहाँ के लोगो का कहना ही क्या। जो कभी भूलकर भी राम का नाम नही लेते थे, वह बेचारे दिन-रात "हे राम," हे परमात्मा" की रट लगाए रहते थे। जो लोग रास्ते में जाते समय मंदिर के सामने पड़ जाने के भय से रास्ता छोड़ देते थे—इस विचार से कि कहीं ऐसा न हो कि इनके प्रणाम करने को कोई देख ले, और शिक्षित समाज मे उनकी हँसी हो जाय!—वे भी ऐसे समय मिन्नतें माना करते थे

बल्कि दिन मे दो-एक बार अपने आगमन से मदिर को शोभायमान करते थे। जो सिवाय बैड स्मेल (Bad smell दुर्गंध) के कभी नाक न दबाते, वे भी नित्य-कर्म के निहोरे प्राणायाम कर लेते थे। सारांश यह कि जिन बातो को धर्म बतलाता है, उन्हीं को इस बीमारी ने लोगो की नाक पकड़कर न केवल बतला ही दिया बल्कि करने के लिये विवश किया। केवल यही नहीं, इसने अच्छे-अच्छे हेल्थ अफसरो (Health officers) के लेक्चरो को भी नीचा दिखा दिया। लोगों को सफ़ाई की जबरिया शिक्षा दी, और इसमे पूर्ण रीति से सफलता प्राप्त की।

शिवदत्त तो पहले ही के डरपोक थे। शहर की यह दशा देखते ही उन्हे कँपकँपी सवार हुई। अब क्या था, घर की सफाई पूरी तरह से होने लगी। जहाँ कहीं समाचार-पत्र में किसी दवा की सूचना मिलती, तुरंत ऑर्डर भेज देते। घरो में प्रति दिन लोबान और गुग्गुलल सुलगाया करते। पहले तो यह धर्म की बात भी न सुनते थे, परंतु अब तो डॉक्टर के जरा-सा कहने पर उन्होने माँस-मछली आदि अखाद्य वस्तुओं को एकदम से त्याग दिया था। उनके मुँह पर तो यही था कि अब आजन्म इन चीज़ो को नहीं खायँगे, परंतु दिल की बात ईश्वर जाने। वह दूसरों को भी इस

बात की शिक्षा देने लगे। रसोइए को कह दिया कि दाल में नमक ज़रा तेज़ रहे। इत्यादि-इत्यादि अनेक प्रकार की ताकीद रखने लगे।

उन्होने अनेक प्रकार की औषधियों का संग्रह कर लिया था, कॉलरा पिल्स (Chobra pills) तो वहीं की कोत-वाली से ले ला थीं और कॉलरा टिंक्चर (Chobra tinctur) प्रयाग से मँगवा लिया था। शिवदत्तजी को अब कुछ धैर्य हुआ। दूसरा कारण यह भी था कि इनके पड़ोस ही मे एक वैद्यराज रहते थे। मगर इनसे होता ही क्या है ? जब समय आ जाता है, फिर किसी की कुछ नहीं चलती। पिता को तो दवा पिलाने की भी नौबत न आई। शीशियाँ ज्यों-की-त्यो रक्खी रह गईं। मामा ने सब मे से थोड़ा-थोड़ा ढकोसा भी, परंतु कुछ फल न हुआ।

पहले तो शिवदत्त को कोई अधिक चिंता न थी ; परंतु जब घर ही मे एक छोड़ चार-चार सुरधाम सिधारे, तब इनके भी छक्के छूट गए। सब तीन-तेरह भूल गए। लेकिन आखिर करते तो क्या करते ? अंत मे यही निश्चय किया—

"राम भरोसा राखिए, जेहि विधि राखे राम।"

दूसरी ओर बीमारी का यह हाल था कि वह ग़रीबों के घरों में तो प्रवेश कर ही चुकी थी, धनियों को भी उसने

अछूता न छोड़ा। एक दिन मृत्यु के दूत एक भारी धनिक महाशय के घर पधारे और बातों-ही-बातों में हैजे का बहाना करके उन्हें ले चले। कुछ लोगों का विचार है कि बीमारी बिना किसी अमूल्य रत्न का बलिदान लिए पिंड नहीं छोड़ती। इन महाशय के मरते ही लोगों को जो दुःख हुआ, वह तो हुआ ही, किंतु अधिक हर्ष इस बात का हुआ कि अब बीमारी अपनी विदाई ले चुकी है, अवश्य अपना रास्ता बदलकर यहाँ से कूच करेगी।

लोगों का यह विश्वास चाहे ठीक न हो, इसमे हमे कुछ आपत्ति नहीं। किंतु यह बात अवश्य हुई कि बीमारी दिन-पर-दिन घटने लगी, और यहाँ तक घट चली कि लोगों के दिल से इसका भय एकदम जाता रहा। लोगों ने अपनी-अपनी दूकानें खोलीं। बाज़ार भी फिर से गरम हुआ। तात्पर्य यह कि थोड़े ही दिनों में नगर मे फिर ज्यों-का-त्यों चहल-पहल हो गई। इसके लिये हमें परम पिता परमात्मा को अवश्य धन्यवाद देना चाहिए।

एक दिन शिवदत्तजी ने अपनी धर्मपत्नी इंदुमती से कहा—"देखो दो-दो महीने बीत गए। हम लोग पकवान को एकदम तरस गए। जाओ, आज इसका प्रबंध करो। किंतु ध्यान रहे कि भोजन अच्छी तरह से बने, ज़रा भी कच्चा न रहे।"

अस्तु। अच्छे-अच्छे पकवान बने और छोटे से बड़े तक सब ने मजे मे ऊपर तक चढ़ाया। लगभग बारह बजे रात को शिवदत्तजी को कुछ गरमी मालूम हुई, और जी मचलाने लगा। अब तो पडितजी जरा घबराए। झट नगे-सिर आँगन में दौड़े आए। आते-ही-आते कै होना शुरू हो गया और इतने जोर से कै हुई कि घरवाले सब जाग उठे। शिवदत्तजी को इस दशा में देखकर सब थर्रा उठे। कोई जल लेकर दौड़ा, और कोई बसन, कोई इलायची डाल पान बनाकर पास आ खड़ा हुआ, और कोई पखा झलने लगा।

शिवदत्तजी को तो लाकर लोगो ने खाट पर लिटा दिया और परामर्श करने लगे कि अब क्या करना चाहिए। उन्हें सौंफ का पानी दिया गया, और लोगो ने यह ज़ाहिर किया कि घबराने की कोई बात नही है। गरमी का दिन है, पकवान मे घी अच्छा न होगा, इसीसे खाना नही पचा। ईश्वर ने चाहा, तो सबेरा होते-होते बिलकुल चगे हो जायँगे। परतु यहाँ कुछ और ही हाल था। कै होते ही शिवदत्तजी ने घरवालों से विदाई माँगी। कहा—"लो हम भी चले। बार-बार जी मचलाने से कलेजा अधिक धड़क रहा है। जी भी भीतर से बैठा जाता है। हाथ-पावों में सनसनी-सी चली आ रही है।" इतना कहते-कहते शिवदत्तजी की दशा और भी खराब हो

गई। लोग बहुत घबराए। सवेरा होते-होते उनकी दशा एक-दम बिगड़ गई, यहाँ तक कि आशा भी जाती रही।

एक आदमी उसी समय पड़ोसी वैद्यराज के पास दौड़ा। वैद्यजी भी संयोग-वश पूरे महापुरुष थे। न-जाने इन्हें किस गुरु ने शिक्षा दी थी। हैज़े का नाम सुनते ही उनके होश उड़ गए। डर के मारे यह हाल हुआ कि काटो तो बदन में खून नहीं। परंतु करते क्या? इन लोगों के घर से पहले का कुछ ऐसा संबंध चला आता था कि बेचारे नहीं भी न कर सके। अंत में जाना ही पड़ा। जाकर कुछ छूमंतर करके चले आए, मानो कोई पड़ोस की विधि पूरा करने आए थे। रोगी में तो बोलने और बातचीत करने की भी शक्ति न थी। एक ही पहर की बीमारी में खाट से लग गए। स्त्रियाँ जो कुछ पर्दे के भीतर से कह सकीं, कहा। किंतु सबका उत्तर वैद्यराज ने यही दिया—"घबराने की कोई बात नहीं है। ईश्वर की कृपा से सब ठीक हो जायगा। लीजिए यह औषधि मैं दिए जाता हूँ, आप लोग इसे बराबर बरफ़ के पानी में घिस-घिसकर दिए जायँ।" इतना कहकर उन्होंने अपनी फीस ली और चलते हुए। उन्हें परवाह ही किस बात की थी? इन्हें तो केवल कफन से मतलब, चाहे मुर्दा बिहिश्त में जाय या दोज़ख में।

भला ऐसी दवा से स्त्रियों को कब विश्वास होने लगा। तुरत आदमी को अस्पताल दौड़ाया। देखते-देखते वायु के समान वेग से डॉक्टर साहब आ पधारे। ऊपर-तले चार पुड़ियाँ तो अपनी ही उपस्थिति मे पिलाई और जाते समय एक शीशी देकर कहते गए कि "पाव घंटे पश्चात् रोगी को पिलाकर मकान के एक अलग कमरे में लिटा देना। खबरदार! कोई आदमी उनके पास न जाय। वहाँ से सब को हटा देना, ताकि उसे नींद आ जाय। यदि सो गया, तो जान लेना कि बच गया। उसी दम मुझे रोगी की हालत से सूचित करना। डॉक्टर के कथनानुसार शिवदत्तजी को लोगों ने एक अकेले कमरे मे लिटा दिया और आप सब लोग वहाँ से हट गए। लेकिन दबे पाँव आ-आकर देख जाते थे।

उस समय शिवदत्तजी की दशा शोचनीय और शिक्षा-पूर्ण थी। बीमारी तो बेशक कड़ी थी परन्तु उनके होश-हवास बिलकुल ठीक थे। वह अपने ही धुन में डूबे हुए थे। लोग जानते थे कि सो रहे हैं। पहले तो उनकी यह दशा थी कि मृत्यु के नाम से कोसों भागते थे और यह नहीं चाहते थे कि अपने को मरनेवाला समझें। परंतु खेद के साथ कहना पड़ता है कि उनका यह विचार केवल थोड़ी ही देर के लिये था। दम-पर-दम उनकी अवस्था इतनी बिगड़ती जाती थी कि शरीर की सारी

रगें ढीली पड़ गईं। अंत में विवश होकर उन्हें समझना पड़ा कि अब मैं दुनिया में केवल कुछ ही मिनिटों का मेहमान हूँ।

वह बेचारे अभी तक दुनिया की बातों में बिलकुल नवयुवक थे। वह जानते थे कि मृत्यु एक ऐसी यात्रा है जिसका वारापार नहीं। यह वह वियोग है कि जिसके पश्चात् संयोग नहीं, वह भूल भुलैया है जिससे निकलना असंभव है, वह बेहोशी है जिसके बाद होश ही नहीं होता।

कभी वह स्त्री और बच्चों को देखकर रोते और कभी संसार के मोह-माया के ध्यान में सिर धुनते और कहते कि "हाय! थोड़े ही समय में क्या से क्या हो गया? अभी तो इसी आशा में थे कि वसंत का आगमन देखेंगे कि इतनी ही देर में पतझड़ ने अपना राज्य स्थापित कर लिया!" जिधर ध्यान जाता यही देखते कि उनकी मृत्यु बेसमय की शहनाई है। स्त्री को देखकर अपने जी में सोचते थे कि "भला, इसकी यह अवस्था विधवा होने की है? न तो इसके मैके में कोई संपन्न है जो इसकी देख-रेख करे; न तो पुत्रों में कोई ऐसा है जो घर को सम्हाल सके। घर में जो कुछ पूँजी है; वह नाम ही मात्र को है। उससे भला कब तक काम चलेगा? दूसरी विपत्ति यह कि आगे लड़कियाँ बैठी हैं। कच्चा साथ, खाली हाथ। बच्चों की परवरिश कहाँ से होगी। कहीं कौड़ी

का भी आसरा नहीं। क्या होगा ? यह जीवन का पहाड़ क्योंकर काटे कटेगा ? बड़ा लड़का तो पहले ही मानो हाथ से जा चुका है। रहा मँझला। वह इस साल इंट्रेंस पास करने को था और आशा थी कि यह कुछ होगा ; किंतु अब वह सब विचार ही मिट्टी मे मिला चाहता है। मेरी आँख बंद हुई, तो कैसा पाठ और किसकी परीक्षा ? इन दो लड़कियो का ऋण मैं अपनी ही गरदन पर ले चला। बड़ी लड़की का ब्याह किस दुःख और संकट के बाद ठहरा कितनो का पैर पूजना पड़ा। मगर वाहरे लेन-देन, तेरा सर्व-नाश हो। जब मेरे रहते यह हाल था, तो अब इन दोनो बच्चियो का देखिए क्या हो।

"पहले से कुछ सोच विचारकर पर साल गाँव लिया था। अभी तक पट्टीदारों का बखेड़ा दूर न हुआ। अब जो चालीस-पचास बीघे सार करके नील बो लिया था, वह भी सब विष्णवे नमः हुआ। गोदाम पर जो रुपए लगा दिए थे, वह भी डूबे। रहने के मकान में किस तंगी से दिन कटते हैं! कोई मेहमान आ निकलता है, तो लज्जा आती है। मकान को चौड़ा कराने का विचार था। लकड़ियो के लिये रुपए भी भेज चुका हूँ। वह नहीं आईं। पजावेवालों को ईंटों का बयाना दिया था,

वह भी नहीं आया, और मृत्यु ने आकर मेरा सामना किया। लोगो का लेना-देना, वड़े-बड़े बखेड़े है। आज समझाने बैठूँ, तो कहीं महीनो में मामला तै हो। मौत ने गला दबाया। सब लेना-लिवाना भारी पड़ा। हे परमेश्वर, तेरी दया से यदि दस-बारह वर्ष भी और जी जाता, तो अपनी इच्छानुसार सब कुछ ठीक कर देता। बाल-बच्चे भी जरा और सयाने हो जाते। खाने-कमाने लगते, इधर इनके शादी-व्याह कर देता। गाँव के मामले ठीक हो जाते। घर ठीक तौर से बना लेता। लोगो के हिसाब-किताब साफ कर देता। गृहिणी के लिये कुछ जमा कर देता। तब निश्चित होकर तेरा नाम लेता हुआ प्राण छोड़ता। ऐसी दशा में फिर मुझे कुछ कहना न होता। मैं समझता हूँ कि संसार में जन्म लेकर मरना अवश्य है। किंतु सब का एक समय नियत है। यह भी कोई मरना है कि हर एक काम को अधूरा छोड़ जाऊँ? ऐसे कुसमय का मरना न केवल मेरे लिये बल्कि समस्त कुटुंबियों के लिये हानिकारक है।"

शिवदत्तजी को स्वतंत्र जीवन व्यतीत करना अधिक प्रिय था। न तो उन्हे घर-बार की चिंता थी और न बाल-बच्चों की परवाह। यदि कुछ उन्हे ध्यान था, तो स्त्री के चिढ़ने का। जब तक स्त्री किसी बात के लिये हठ न करती, इन्हे अपने

चचल स्वभाव द्वारा तंग न करती, तब तक यह कुछ भी न सुनते। यही कारण था कि जब कभी वह सुनते कि अमुक व्यक्ति ने बड़े दुःख के साथ प्राण छोड़े और अमुक ने अपनी अल्प बुद्धि पर मरते समय बहुत ही खेद प्रकट किया, तो शिवदत्त को बड़ा आश्चर्य होता। वह कहते—"वाहरे विधाता, ऐसे लोग भी इस संसार मे हैं जिन्हें दुनिया से निकलने का जी ही नहीं होता। न-जाने संसार की कौन-सी वस्तु उन्हे अत्यत प्रिय तथा मनोहर ज्ञात होती है? यहाँ तो ईश्वर ही बचावे! ससार मे तो कभी ठहरना ही नही चाहिए, यहाँ दिन-रात दुःखों का ही सामना है। इस छोटे-से जीवन में कितने बखेड़े हैं, जिनका कोई वारापार नहीं। परतु ईश्वर की महिमा न्यारी है। उसकी गति मे भला किसी की बुद्धि काम कर सकती है? ऊपर से तो सब को मृत्यु बुरी मालूम होती है, परतु यदि ध्यान दिया जाय, तो इससे बढ़कर संसार में कोई सुख ही नही है। मनुष्य का स्वभाव है कि कोई वस्तु चाहे कैसी ही भली और मनोरजक क्यों न हो परंतु उसके व्यवहार मे बहुत शीघ्र उसे घृणा हो जाती है। मेरे लिये तो यही बात है—

जिस मरने से जग डरे, मेरे मन आनंद;
मरने ही से पाइए, पूरण परमानंद।

परंतु यह सब केवल भावना-ही-भावना थी। जब तक शिवदत्तजी दूसरे को मरते देखते, तब तक स्वय बहादुर बने थे, लेकिन जब अपने सिर पर आ बनी, तो सब से अधिक बोदे निकले। अब तक तो वास्तव मे वह सब सबंधो से वचित मालूम होते थे, किंतु मृत्यु ने आ पुकारा, तो इनकी ढोल की पोल खुली। अब मालूम हुआ कि वह स्त्री और बाल-बच्चो के मोह-माया मे कैसे लिपटे हुए हैं। यात्रा का नाम सुनते ही उनके एक-एक पैर हज़ार-हज़ार मन के हो गए। रेल की सीटी बज चुकी थी, मगर वह अभी स्टेशन के बाहर ही असबाब ठीक कर रहे थे। यदि इसी भावना में इनका प्राणांत हो जाता, तो ईश्वर जाने इनकी आत्मा को कहाँ चैन मिलती और न-जाने इनके प्राण कहाँ भटका करते। किंतु भगवान् ने इनपर बड़ी दया की। इनको निराशा ने इनको बहुत धैर्य दिया। मन में सोचने लगे कि जब मरना अवश्य है, तो फिर इन चिंताओ से क्या लाभ? जब मरना ही है, तो आदमी की तरह क्यों न मरूँ?

इस ख़याल के मन में आते ही समस्त वस्तुओं पर उदासी छा गई। अब जिस वस्तु पर दृष्टि जाती है, वृथा मालूम होती है। यही समय था, जब डॉक्टर ने उन्हें अकेले सुला दिया था। एक तो बीमारी की अधिकता से निर्बल हो

ही चुके थे, दूसरे दवा का जोर । थोड़ी ही देर में नींद की एक झपकी-सी आ गई। आँख का बंद होना था कि शिव-दत्त एक दूसरे लोक में पहुँच गए। जो ध्यान अभी थोड़ी, देर हुई, उनकी आँखों के सामने था, सब उनके मस्तिष्क में समा गया। इन सब विचारों ने एकसाथ गुडमुड होकर इन्हें एक नए लोक में ला गिराया।

दूसरा परिच्छेद

हे परमेश्वर, यह कौन-सा देश है ?

जैसे ही शिवदत्तजी ने इस नए ससार मे पैर रक्खा, वह भौचक्के-से हो गए। अनंत प्रकार की वस्तुओं का सामना हुआ। क्या देखते हैं कि एक बड़ा विशाल भवन है जिसे देखते ही इनका हृदय भयभीत हो गया। वह स्वयं किसी समय फौजदारी अदालत मे डिप्टी मैजिस्ट्रेट रह चुके थे, उन्हे ज्ञात हुआ कि यह हाईकोर्ट का न्यायालय है। किंतु न्यायाध्यक्ष कुछ ऐसे गभीर पुरुष हैं कि लाखो की भीड़ होने पर भी किसी के मुँह से एक शब्द भी नहीं निकलता, सब चुपचाप मुँह दबाए इस तरह खड़े है, मानो किसी के मुँह मे जबान ही नहीं। कारण-वश जो कोई कुछ बोलता और बात भी करता है, तो इतने धीमे स्वर मे कि कानो कान खबर नही होती। इतनी बड़ी तो कचहरी, लेकिन वकील-मुख्तार कहीं नजर नही आते। कचहरीवाले इस ऐसे खरे और अपने हाकिम से डरते है कि किसी मुकदमेवाले को अपने पास फटकने तक नही देते। क्या मजाल, किसी तरह का काम किसी अनुचित प्रलोभन द्वारा हो सके। यद्यपि

हाकिम का भय सब में व्यापा हुआ है, तथापि किसी मुकदमे में किसी प्रकार का अनुचित व्यवहार नहीं होता है। जितने प्राणी वहाँ एकत्रित हैं, सब इनके न्याय और गंभीरता की प्रशंसा कर रहे हैं। किसी के चेहरे से भी यह प्रकट नहीं होता कि उसके मुकदमे को शीघ्रता के कारण हाकिम ने भली भाँति समझा नहीं और सरसरी तौर से उसका न्याय कर दिया।

हाकिम को इतना बड़ा अधिकार है कि उनके फैसले की कहीं अपील ही नहीं है। काम करने का ऐसा अच्छा ढंग है कि काम रोज़-का-रोज़ साफ। कितने ही मुकदमे पेशी में क्यों न हों, संभव नहीं कि निश्चित तारीख पर उनका न्याय न हो जाय। फिर यह भी नहीं कि किसी मुकदमे को सरसरी तौर पर फैसल करके टाल दिया जाय। नहीं, जो न्याय होता है, वह भली भाँति होता है। सब प्रकार के दुबधा और संदेह दूर कर दिए जाते हैं। केवल यही न[illegible]
शांति के साथ दोषी से उसका दोष भी [illegible]
है। उसे किसी प्रकार का असंतुष्टता [illegible]
न्याय होना है, फिर उसमें कोई भी द[illegible]
जाती। जो हुक्म है, दूध-का-दूध और पा[illegible]
का यह हाल है कि सिवा सत्य बोलने[illegible]

ही नही ली जाती। गवाह भी ऐसे, जिन्होंने सब हालतो को सिर्फ सुना ही नहीं, बल्कि अपनी आँखों देखा है। जो दोषो के सर्वदा साथ रहनेवाले, मित्र, उसके सब भेदों के जाननेवाले और उसके संकटों मे सहायता करनेवाले है। प्रत्येक अपराधी को उसके कर्मो का एक-एक परचा दिया गया है। वह उसे पढ़ रहा है और जितने अभियोग उसपर लगाए गए हैं, सबको समझता और अपने छुटकारे के कारणों पर ध्यान दे रहा है।

कचहरी का ख़याल शिवदत्तजी को हवालत की ओर ले गया जहाँ अभियुक्त अपने मुकदमे के पहले रक्खे जाते हैं। उन्होंने देखा कि प्रत्येक मनुष्य अलग-अलग नजरबंद है और अपने कर्मानुसार उचित दशा को प्राप्त है। हवालात से सटा हुआ ही जेलखाना है, मगर बहुत ही बुरा ठिकाना है, जिसे देखते ही शरीर के रोएँ सहम जाते है। हर प्रकार का दड दिया जा रहा है। जिसे हम घोर नरक कहते है, वह यही कारावास है। इस प्रकार का दड कि कभी कोई स्वप्न मे भी नहीं देख सकता। चारो ओर से हाहाकार मचा हुआ है।

शिवदत्तजी इस दृश्य को न देख सके। एकाएक घबराकर वहाँ से उलटे पाँव भगे। बाहर आए, तो फिर वही बदियों का दृश्य सामने पाया। इन लोगो मे हजारों आदमी तो नए दीख

पड़े, लेकिन कहीं-कहीं शहर और महल्ले के भी कई जान-पह-चानवाले दिखाई पड़े, मगर वही जो मर चुके थे। शिवदत्तजी कोयह दृश्य देखकर स्वप्न ही में बड़ा आश्चर्य हुआ कि हे पर-मेश्वर, यह कौन-सा देश है ? किसकी कचहरी है ? यह इतने अभियुक्त कहाँ से पकड़े गए हैं ? और मेरे नगरवासियों ने कौन-सेअपराध किए हैं जो यहाँ जकड़े हैं ? फिर यह कैसे मरे थे, जो इनको मैं वैसा ही हट्टा-कट्टा अपनी आँखों से देख रहा हूँ ?

शिवदत्तजी इसी आश्चर्य में गोते खाते लोगो को देखते-भालते जाते थे कि दूर से उनको अपने पूज्य पिताजी उन्हीं अपराधियो में बैठे हुए दिखाई पड़े। पहले तो समझे कि आँखों का दोष है परंतु जब ध्यान से देखा, तो पहचाना कि नहीं यह वही हैं। दौड़कर उनके पैरो पर गिर पड़े और फूट-फूटकर रोने लगे। बोले—"हे पूज्यवर, हम सब आपके वियोग में बेहाल हो रहे हैं। आप यहाँ कहाँ ?"

पिता—मैं अपने कर्मों के कारण यहाँ लाया गया हूँ। मुझे उनका उत्तर देना है। यह यमपुरी है, जहाँ सब को एक-न-एक दिन आना पड़ेगा और ईश्वर के आगे अपने-अपने कर्मों का उत्तर देना पड़ेगा। यह वही इजलास है जहाँ कर्मों-के अनुसार दंड दिया जाता है। इसमें मनुष्य की बुद्धि कुछ भी काम नहीं करती।

शिव०—पिताजी, आप तो बड़े साधु थे। सब लोग आप की भक्ति की मुक्त कंठ से प्रशंसा करते थे। आप पर कौन-सा अपराध लगाया गया? क्या यही ईश्वर का न्याय है? भक्ति का यही फल है? राम-राम! क्या वेद भी झूठे हैं? फिर क्या बात है? मेरी बुद्धि मे कुछ भी नही आता। भला आप और अपराधी?

पिता—अपराध एक-दो नही, सैकड़ो-हज़ारो। देखो, यह मेरे कर्मों की सूची है, कितने विलक्षण पापों से भरी हुई है, देखते ही प्राण सूख जाते हैं। मैं इसे देखकर बड़ी विपद् मे हूँ कि आखिर क्या उत्तर दूँगा? और अपनी मुक्ति का कौन-सा कारण दिखाऊँगा?

यह वही क़ागज़ का परचा था जिसे शिवदत्तजी ने प्रत्येक मनुष्य के हाथो मे देखा और सांसारिक दृष्टि से इसे सम्मन समझा था। पिता की कर्म-सूची देखकर वह थर्रा उठे। नास्तिकता, आज्ञा-उल्लघन, अकृतज्ञता, असाधुता, अहंकार, धूर्तता, असत्यता, स्वार्थ, लोभ, ईर्षा, अपवाद, कपट, देश-विद्रोह, इत्यादि कोई भी बुराई ऐसी न थी जो इसमे न हो। चूँकि इनके मस्तिष्क मे बिलकुल दुनिया की बाते भरी थीं, इसलिये यह अपने पिता की कर्म-सूची में भारत-दंड-विधान की धाराएँ लगाने की चिंता मे डूबकर गोते मारने लगे। परंतु ध्यान में कुछ

भी न आया। उन्हें धर्म-शास्त्र की बातें और गीता तथा मनु-स्मृति के प्रमाण सूझने लगे; वे और भी पेंच में पड़े। करेला यों ही कड़ुआ था, दूसरे नीम चढ़ा। आश्चर्य के साथ इन्होंने पूछा—"पिताजी, क्या ये सब अभियोग ठीक हैं ?"

पिता—हाँ, बाल-बराबर भी इधर-उधर नहीं।

शिव०—क्या आपने हाकिम के सामने इन सब को स्वीकार कर लिया है ?

पिता—अस्वीकार को तो चमता ही नहीं। मेरे विरुद्ध इतनी गवाहियाँ हैं कि यदि मैं इनकार करूँ, तो मेरी बातें विश्वसनीय नहीं हो सकतीं।

शिव०—पिताजी, वह कौन लोग हैं जो आपके विरुद्ध कमर कसे हैं ?

पिता—पहले तो ईश्वर के गुप्तचर, जो ऐसे विकट हैं कि मेरा कोई भी काम उनसे छिपा नहीं है। जितनी बातें कहते हैं, पते की। और कहना तो अलग रहा, वह मेरे कर्मों की सूची तैयार करते गए हैं। अब जो मैं उसे देखता हूँ, तो एक-एक अक्षर ठीक पाता हूँ। ज़रा भी इधर-उधर नहीं। बिलकुल सही है। दूसरे ये मेरे शरीर के अंग—हाथ, पाँव, आँख, कान—कोई मेरे कहने का नहीं। सब-के-सब मुझसे फिरे हैं। कोई भी मेरा साथी नहीं। सब मेरी ही

बरबादी पर तुले हैं और मेरे ही नाश के सामान इकट्ठा किए हैं।

शिव०—आखिर आप इसका कुछ कारण भी समझते हैं?

पिता—मैं भूल से इन्हे अपना मित्र और सहायक समझता था। किंतु देखा कि वस्तुतः ये ईश्वरीय गुप्तचर थे। इन्होंने मेरे साथ वह व्यवहार किए हैं कि क्या कहूँ।

शिव०—फिर आपका क्या हाल है?

पिता—जब से संसार को छोड़ा, इसी हवालात मे हूँ। अकेला जी घबराता है। दिन-रात इसी चिंता मे घुलता हूँ। हवालात मे मुझे इतना कष्ट हो रहा है कि कह नही सकता। प्रतिदिन आते-जाते बंदीगृह से होकर गुजरना होता है। नरक वही है। वहाँ की दशा देख-सुनकर होश उड़ जाते हैं। तब यही सोचता हूँ कि यदि इसी हवालात में रहने की आज्ञा हो जाती, तो अच्छा था।

शिव०—अभी तक आपका मुकदमा पेशी मे नहीं गया?

पिता—ईश्वर न करे कि इसकी पेशी हो। जितने दिन हवालात मे व्यतीत होते हैं, वही अच्छे हैं। मुझे इसी में संतोष है। पहले जब मैं इस हवालात में आया, तो मुझे यह सूची दी गई। मैं इसी को देखा और इसके फल से काँपा करता हूँ। छुटकारे का कोई रास्ता ही नहीं दिखाई पड़ता।

शिव०—भला आपके इस संकट में हम लोग कुछ काम आ सकते हैं ?

पिता—यदि मेरे लिये ईश्वर के आगे पवित्र भाव से और भक्ति-पूर्वक प्रार्थना करो और नियमानुसार मेरे निमित्त कुछ परमार्थ करो, तो संभव है कि यह सब काम फलदायक हो। अभी मेरे पड़ोस में एक मनुष्य की मुक्ति हुई है। उस पर भी बहुत-से अपराध लगाए गए थे। परंतु ईश्वर न्यायी और अत्यंत दयावान् है। उस मनुष्य के कुटुंबियों ने उसके लिये प्रतिदिन ईश्वर से बहुत क्षमा माँगी और प्रार्थना की तो परसों उसे इजलास पर बुलाकर हुक्म सुनाया गया कि जो कुछ तूने किया है, वह सब तुझे मालूम है परंतु हमारे कई भक्त तेरे लिये हम से गिड़गिड़ा रहे हैं और वह गिड़गिड़ानेवाले तेरे ही कुटुंबी हैं—अर्थात् तेरी स्त्री और तेरे बाल-बच्चे हैं। हमें केवल यही एक बात भली मालूम होती है कि तूने अपने कुटुंब में नेकी और भक्ति का अच्छा संचार किया है। इसलिये जा, हमने तुझे क्षमा कर दिया। बेटा, सच कहना तुम लोगों ने कभी मेरी भलाई के लिये ईश्वर से प्रार्थना की है ?

शिव०—पिताजी आपकी मृत्यु के बाद रोना-पीटना तो बहुत कुछ हुआ और अब तक भी इसी तरह होता है, मानों आपने अभी प्राण छोड़े हैं। यह रोना हम लोगों के

दम के साथ है। आपकी भलाई जब तक जिएँगे, मनाया करेंगे। सांसारिक नियम के अनुसार भाई-बंधुओं का भोज भी करा दिया है। लोग शायद मेरे मुँह पर मिथ्या प्रशंसा करते हों, मगर कहते थे कि इस मँहगी समय मे पिता का श्राद्ध अच्छा किया। प्रार्थना के विषय मे मैं झूठ क्यों कहूँ, इसका बिलकुल ध्यान ही न था। आपके बाद हिस्सेदारो के ऐसे झगड़े पड़े कि आज तक नहीं सुलझे। परंतु यह तो कृपया बतलाइए कि आप तो पूजा, पाठ और व्रत इत्यादि में बड़े कट्टर थे। क्या यह सब कुछ भी काम न आए?

पिता—क्यों नहीं। यही तो कारण है कि तुम मुझे इस दशा में देख रहे हो। अन्यथा बहुत-से तो इससे भी अधिक घोर आपत्ति मे जकड़े है। उन्हे हवालात में जेलखाने का दुःख उठाना पड़ता है। मगर यहाँ तो कर्मों के साथ विशुद्ध प्रेम का भी होना परमावश्यक है। मैंने अपने कर्मों की सूची देखी, तो बहुतेरे ऐसे निकले जैसे झूठे मोती और खोटे रुपए। पूजा-पाठ चित्त के एकाग्र न होने से निरर्थक हुए और व्रत चूँकि लोक-लज्जा के भय से किए थे, इसलिये इसकी गिनती केवल भूखे रहने में हुई।

शिव०—क्या इस दरबार में सिफारिश काम नहीं आती?

पिता—कोई किसी की बात तो पूछता ही नही, यहाँ तो सब

को अपनी-अपनी पड़ी है। हर आदमी अपने ही संकट में फँसा हुआ है, दूसरे की सहायता भला कोई क्या करेगा ? पहले स्वयं तो मुक्त हो ले।

शिव०—यह नास्तिकता का अभियोग आप पर कैसे लगाया गया। हम लोग तो क्या, सारा नगर इस बात को स्वीकार करता है कि आपका तो "एको ब्रह्म द्वितीयो नास्ति" ही सिद्धांत था। क्या वास्तव में आप ईश्वर को नहीं मानते थे ?

पिता—मानता तो था, किंतु विश्वास न था।

शिव०—पिताजी, आपके कामों में तो साफ़ मालूम होता था कि आप एक पहुँचे हुए सज्जन थे।

पिता—वह सब बातें, मालूम हुआ कि, ऊपरी दिल से थीं। जब पहले-पहल मेरा आख्यान हुआ, तो यह पूछा गया कि "तेरा ईश्वर कौन है ?" मैंने उत्तर में कहा कि "मेरा ईश्वर वही है, जिसका कोई सानी नहीं।" तब उसपर जिरह की गई कि "जब तू दक्षिण की नौकरी से छुड़ा दिया गया और घर लौटकर बहुत दिनों तक घर पर बैठा रहा, और जो-कुछ नौकरी में कमाकर लाया था, सब ख़र्च हो गया और तू रोटी के लिये मोहताज होकर नौकरी ढूँढता इधर-उधर मारा-मारा फिरता था, और व्याकुल होकर हम से

प्रार्थना करता था, मगर हम तेरे संतोष और भक्ति की परीक्षा ले रहे थे। एक अँगरेज़ हाकिम हमारी दया से तेरा सहायक हुआ, जो मेरे समीप तेरे ही समान था। तू इसका मुख्य कारण मुझे न समझकर यही समझता था कि जो कुछ अर्थ-सिद्धि हो रही है, मेरे ही उद्योग और मेरे प्रयत्नों का फल है। सच बता, तुझे उस अँगरेज़ की बातों पर विश्वास था या नहीं ?

"संसार में ऐसा कोई नहीं जिसका पालनहार मैं नहीं हूँ। यदि तू अंतःकरण से हमको सर्व-व्यापी, दीनानाथ, विश्व-कर्ता इत्यादि जानता था, तो तू पाप करने के लिये क्यों उत्साहित होता था ? तू भूलकर कभी भाड़ में तो नहीं कूदा ? कभी खौलते पानी में तो हाथ नहीं डाला ? कभी जलती हुई आग मुट्ठी में तो नहीं ले ली ? परंतु पाप करने में तो तू कभी नहीं हिचकता था। यह निश्चय है कि या तो तुझे विश्वास न था कि पाप करनेवाला नरक की आग में झोंका जाता है, या यदि विश्वास था, तो तू उसे दुनिया की आग से अवश्य घट-कर समझता था। संसार में जो कुछ आराम तुझे मिले थे, सब हमारी दया से। इनके पाने का तुझे कोई अधिकार न था। क्या तू उन्हें सर्वदा यह नहीं समझता था कि जो कुछ हुआ, मेरे परिश्रम से हुआ ? तू अपने पैरों में अपने ही आप कुल्हाड़ी

मारता रहा। फिर जितने कष्ट तूने स्वयं अपने ऊपर बुलाए, उनके लिये क्या तू यह कहकर हमें दोषी नहीं बनाता था कि 'सब ईश्वर के कोप से हुआ।'

"तू बड़ा भारी अकृतज्ञ है, हमने हजारों-लाखों बार तुझ पर अनुग्रह किया, परंतु तुझसे इतना भी न हो सका कि तू मुँह से स्वीकार तो करता। असंख्य उत्तम पदार्थ हमने तुझको दिए, किंतु तुझपर इतना भी असर न हुआ कि कभी ज़बान पर तो लाता। जितनी हमने तेरे साथ भलाई की, उतना ही तू हमसे विपक्ष रहा, हमारी निंदा ही करता रहा। जितना हम तेरे साथ भलमंसी करते रहे, उतना ही तू भ्रष्ट-शील और अशिष्ट होता गया। इस दो दिन की जिंदगी पर तुझे इतना गर्व हो गया था कि तू मेरा द्रोही बना फिरता था और जरा भी नहीं डरता था, मानो हम थे ही नहीं। हम हर प्रकार से तेरी भलाई ही करते गए। हमने तुझे मनुष्य-योनि में पैदा किया। पोस-पालकर बड़ा किया। जिस वस्तु की तुझे दरकार हुई, देते ही गए। हर स्थिति में तेरे रक्षक रहे। क्या इस वास्ते कि भूलकर भी तू कभी हमें याद न करे? और सर्वदा अपनी खिचड़ी अलग ही पकाया करे? जब तू केवल मांस का एक लोंदा और बिलकुल असमर्थ था—इतना निर्बल कि न करवट बदल सके और न कहीं चल सके, ऐसा

अबोध कि किसी को पहचान न सके——उस समय हमने तुझे दूध पिलवा-पिलवाकर बड़ा किया। तेरे माता-पिता को तेरी सिवा और सुश्रूषा के लिये मुकर्रर किया, जो तुझसे सब प्रकार बड़े थे। उनके हृदय मे तेरी मुहब्बत डाल दी। उन्होंने हमारी आज्ञा से तेरा पालन-पोषण किया। तू दिन-पर-दिन हट्टा-कट्टा और प्रसन्न-चित्त होता गया। फिर हमने बुद्धि को तेरा परामर्श-दाता बनाया ताकि तू उसकी सहायता से अपने उचित सुख के वास्ते अनेक प्रकार की वस्तु इकट्ठी करे। दुनिया के चर-अचर, पक्षी इत्यादि से तुझे श्रेष्ठ बनाया कि तू उनसे लाभ उठाए। क्या इसलिये कि तू बहककर हमारी ओर आँख न फेरे? और सदा हमसे भागा-भागा फिरा करे?

"तेरा जीवन वास्तव मे कुछ भो न था। दो मिनट यदि हवा न मिलता, तो तेरा दम निकल जाता। एक रात तुझको बिना अन्न-जल के जीना कठिन हो जाता। जब सब कुछ तुझे प्राप्त हो चुका, तो उसी में तू फूला न समाया। कभी न सोचा कि ये सब चीजें हमारी ही दया से तुझे प्राप्त हुई हैं। जिंदगी-भर में कई कुएँ तूने खाली किए होंगे, परंतु कभी ध्यान न दिया कि सूखी मिट्टी के नीचे पानी की निर्मल धारा बहानेवाला कौन है? पृथ्वी से अन्न पैदा करनेवाला कौन है? इस पर तेरी यह हेकड़ी, थी मानो हम तेरे आज्ञाकारी हैं या

हम पर तेरा कुछ उधार आता है। तू खाता था और सुकरता था। लेता था और भूल-भूल जाता था।

"तू सांसारिक विषयों में तो बड़ा पंडित था। मगर जान-बूझकर हमारे साथ नादानी करता था। मुँह पर आँखें थीं और अंधा बन गया। एक छोड दो-दो कान थे, पर बहरा हो गया। पृथ्वी, आकाश, सूर्य, तारे, वन, नदी, मैदान, अनेक प्रकार के वृक्ष, फल, फूल, अच्छे-अच्छे वस्त्र, रंग-बिरंग के अमूल्य रत्न, चाँदी, सोना इत्यादि दुनिया-भर का सामान हमने तेरे लिये एकत्रित किया। हम तो तुझे इतना प्यार करें, और तू हमारे प्रतिकूल चले। हम बार-बार क्षमा करें, तो भी तेरी चाल बे-ढंगी! हम यदि चाहते, तो एक छोटी-सी चीटी तुझे समाप्त करने को पर्याप्त थी। हम यदि रक्षा न करते, तो तेरे शरीर में इतने विकार थे कि एक जरा-सा रोग तेरे लिये बहुत था। हम तो तुझसे दोस्ती करें और तू हमारे साथ दुश्मनी पर उतारू था। हम दया करते थे और तू विद्रोह के साथ पेश आता था। क्या हमारे उपकारों का यही उचित बदला था, जो तूने हमको दिया है? क्या वेदों द्वारा तुझे नहीं बतलाया गया था? क्या ज्ञान और बुद्धि ने तुझे नहीं समझाया था कि अंतःकरण की शुद्धि का ध्यान सर्वदा रखना, किसी प्रकार की इसमें मलीनता न आने देना? हमने उपदेश किया है

कि संसार में इस प्रकार रहना जैसे पानी में कमल का पत्ता, जैसे सराय में यात्री। परंतु तू तो वहीं का हो रहा। ऐसी लबी तानकर सोया कि आज नींद खुली।

"क्या तूने सारा जीवन द्रव्योपार्जन मे व्यतीत नहीं किया? क्या पक्के-पक्के रगमहल इस सकल्प से नहीं बनवाए कि चिरकाल तक तू उनमे निवास करेगा? क्या यात्री का यही काम है? तू तो जानता था कि जहाँ से मैं आया हूँ फिर वहीं लौटकर जाना होगा, तो फिर मृत्यु के नाम से डरता क्यो था? चलने की खबर सुनकर मचलता क्यो था?

"पहले तो तूने मेरा पूजन नहीं किया, परतु जब लोक-लज्जा के भय से कभी ध्यान लगाता था, तो किस तरह कि दिल कहीं था और तू कहीं। ससार की बरसों की भूली-बिसरी बातें तुझे सध्या-पूजन मे याद आती थीं। पूजा क्या करता था, घास काटता था। न तो विधि ही ठीक, न प्रार्थना शुद्ध और न चित्त ही एकाग्र। सदैव अपने नारकी पेट की धुन मे मस्त। जब कोई व्रत आता, तो बीमारी का बहाना करके खाट पर पड़ रहता था। यदि कभी खयाल भी आया और कोई व्रत कदाचित् किया भी, तो और दिन जो दो बार खाता, तो उस दिन एक ही बार मे इतना ठूँस लिया कि गले

तक चढ़ आता और गाता फिरता कि हमने फलाहार किया है, आज व्रत के कारण बहुत कमजोरी है। रह-रहकर प्यास लगती है। सारंश यह कि हर प्रकार से तू अपनी महिमा का बखान करता था। व्रत के पहले रात को दो दिन का भोजन करलेता कि कल व्रत रहना है, न-जाने फलाहार करना हो या निराहार रहना पड़े। यों तो दुनिया के काम में दिन-भर विना अन्न-जल के रह जाता किंतु व्रत के दिन विना फलाहार किए रहा ही न जाता। उस दिन को तू इस तरह से देखता था जैसे कोई बंदी देखता है कि कब दिन खतम हो और हम छूटे ? यदि तेरा वश चलता, तो तू व्रत का नाम ही उड़ा देता। यदि ऐसा न करता, तो बजाय चौबीस घंटे के दस ही घंटे का दिन बनाता। हमने तुझे मनुष्य बनाकर भेजा था कि तू दूसरों की सहायता करेगा; परंतु तूने वह काम किया कि सहायता करना तो दूर रहा, बेचारों पर विपत्ति ढाने लगा। जिस तरह बनता, अपनी ही भलाई के लिये मरा जाता था। तेरे पड़ोस में कितने लोग भूखे सो रहते हैं, परंतु तू टस से मस न होता। किसी को तो एक मुट्ठी भी अन्न न मिलता, पर तुझे हमेशा अनपच ही की शिकायत रहती। तेरे पड़ोसी जाड़ों की ठंढी रातों को आग ताप-तापकर सबेरा करते, और तू दोहरे-दोहरे लिहाफ़ और भारी-भारी

तोशकों में चैन से पैर फैलाकर ख़र्राटे लेता। हमने तुझे जो कुछ धन दिया था, उसे तूने व्यर्थ कामों में फूँक डाला। अपने दिखावे के लिये तू ख़र्च करता रहा और जिन बेचारों को आवश्यकता थी वे कौड़ी-कौड़ी को तरस गए, पर तू निर्दयी होकर अपने स्वार्थ में डूबा रहा। तेरे सब ढकोसले हमें मालूम हैं। जब तक कहीं से प्राप्ति की आशा रहती तब तक तू अपने इंतज़ाम में भूला रहता, तुझे यह भी ध्यान न रहता कि हमारा भी कोई मालिक है, हमें एक दिन उसके सामने अपने कर्मों का उत्तरदायी होना पड़ेगा; परंतु जब तेरा उद्योग न चलता, तब हमें याद करता और गिड़-गिड़ाता। यदि मेरी प्रभुताई तेरी वंदना पर निर्भर होती, तो तू अपने जान भर उसके उठा देने की यथाशक्ति प्रयत्न कर ही चुका था।

"तूने केवल इतना ही नहीं किया बल्कि स्वयं आदर्श बनकर दूसरों को भी बहका दिया। दूसरे तो दूर रहे, अपनी संतान को भी तूने वही सबक़ पढ़ाया और उनका भी सर्वनाश किया। प्रतिदिन तू लोगों को मरते देखता और सुनता था, क्या तुझे इतनी बात नहीं समझ में आती थी कि तू भी एक दिन मरेगा? स्वयं तेरे ही जीवन में कितने परिवर्तन हुए—लड़के से जवान हुआ, जवान से बूढ़ा,

कमज़ोर, तेरे बाल सफेद हुए, दाँत टूटे, कमर झुकी, बल भी गया। तात्पर्य यह कि हमने तुझको सोता देखकर बहुतेरा झिझोड़ा, बहुतेरे ठडे पानी के छींटे दिए, कई बार उठा-उठाकर बिठा दिया; परंतु तू ऐसी नींद सोया था कि करवट भी न बदली।

"देख, तूने सारा जीवन बेहोशी मे खो दिया। इससे हमारा कुछ भी नही बिगडा। यदि बिगड़ा, तो तेरा ही। हम निष्ठुरता नही करते, यह हमारा स्वभाव नही, क्योंकि पिता अपने पुत्र से निष्ठुरता नही करता। और निष्ठुरता भी किन पर, जो हमारे ही सिरजे हैं, जिनको हमने ही पाला, और हमी जिनके सर्वस्व हैं? परंतु वह जब हमें ऐसा समझते, तब। ऐसा नहीं कि हम तो उन्हे निमक दे और वह कहे कि हमारी आँखे फूटीं। भला तू ही बता कि हमसे भी बढ़कर क्षमा करनेवाला कोई है जो एक ही बार के गिड़गिड़ाने पर उसके सारे जीवन के पापों को भुला देते हैं? परंतु जब कोई वास्तव मे अंतःकरण से अपने पापों का पश्चात्ताप करे, तब।

"जब किसी को पापों में जकड़ा हुआ देखते हैं, तो स्वय हमे लज्जा आती है कि उसने हमें एकदम भुला दिया। इस बात का पछतावा होता है कि यदि वह एक बार भी अंतःकरण से हमें स्मरण करता, तो आज वह हमारे लोक में क्यों न होता।

हमने बहुतेरे रास्ते इनकी भलाई के बनाए, परंतु इन्होंने इस ओर बिलकुल ध्यान ही नही दिया।

"हमने अपनी दया से तुझे सब कुछ दिया था। किसी बात की तुझे परवाह न थी। खाने को हमने नही रोका, सोने को हमने मना नहीं किया। फिर क्यो तू इस तरह हम से असहयोग किए बैठा था? क्या अच्छा होता, यदि तेरी बुद्धि दुनिया की आराम की वस्तुओं मे मारी न जाती। तुझे एक-एक व्रत के टूट जाने का वैसा ही रज होना चाहिए था, जैसाकि अमूल्य रत्न के खो जाने का होता है बल्कि इससे भी बढ़कर। परतु खेद है कि तू माया मे ऐसा भूला कि इस ओर ध्यान ही नहीं दिया। वास्तव मे तू धर्म से इस तरह विमुख रहा कि इस ओर ध्यान देना तू पाप समझता था।

"हम देखते हैं कि तू एक बात का भी उत्तर नहीं दे सकता, हम तुझे अवकाश देते है। जा, अपनी कर्म-सूची देख और भली भाँति समझकर कोई बात हमसे बयान कर; परतु ऐसी बात हो, जो स्वीकार की जाने के योग्य हो।"

तीसरा परिच्छेद

नक़्क़ार खाने में तूती की आवाज़

पिता की रामकहानी सुनकर शिवदत्तजी इतने भयभीत हुए कि एकाएक चौंक पड़े। आँखे खुलीं, तो फिर वही दालान था। स्त्री पास बैठी हुई धीरे-धीरे पखा झल रही थी। पति की आँखें खुलती देख उसकी जान-मे-जान आई, नहीं तो जिस समय से स्वामी की यह दशा देखी थी, इतनी डरी थी कि काटो तो बदन मे ख़ून नही। शिवदत्तजी आठ बजे डॉक्टर की दवा पीकर जो सोए, तो कहीं तीन बजे जाकर उन्हें चेत हुआ। चूँकि डॉक्टर कह गया था कि "यदि नीद आ गई, तो जानना कि बीमार बच गया", इसलिये इनके सो जाने से सबको सतोष हो गया था। परतु जब अधिक विलब हुआ, तो स्त्रियाँ फिर घबराने लगीं कि नहीं मालूम डॉक्टर ने कौन-सी दवा पिलाई कि पड़े-पड़े दो पहर बीत गए, करवट तक नहीं बदली? ईश्वर ही जाने, भीतर से तबियत कैसी है। देखें, क्या होता है।

स्वामी को जागते देख स्त्री ने पूछा—"कैसी तबियत है? अच्छे सोए कि घर में रोना-पीटना हुआ किया और तुमको ख़बर ही नहीं। कुछ कहो, जिससे सबको ढाढ़स हो। किसी

बच्चे के मुँह मे अभी तक दाना नहीं गया। सब-के-सब कल ही के खाए हुए है। रोते-रोते लड़को की आँखें सूज गईं।"

स्त्री ने बहुत कुछ दिल बहलाने की बातें कीं, परंतु उनकी आँखो के आगे तो स्वप्न का दृश्य नाच रहा था। उन्होंने कुछ भी उत्तर न दिया। तब इंदुमती ने पूछा—"कहो प्राणनाथ, कैसी तबियत है ? कुछ बोलो तो, जिससे हृदय को शांति हो।"

औरों के दिलो से तो बिलकुल आशा मिट ही गई थी, किंतु बेचारी इंदुमती चिंता में पड़ी सिसक रही थी। दुःखो स्त्री अपने इष्टदेव को मनाती और कहती थी यदि मेरा सत्-व्रत ठीक हो, तो हे परमात्मन् ! इनका रोवाँ भी मैला न हो। दूसरो ने तो विलंब होने के कारण बाज़ार से पूरी इत्यादि मँगाकर खा ली थीं; परंतु इंदुमती वहाँ से न टली, वह बेचारी पति की सेवा ही मे लगी रही और देवताओ को स्मरण करती थी।

इधर यह दशा थी, उधर बेचारे शिवदत्तजी स्वप्न के विचार में लीन थे। उन्हें विश्वास हो गया कि यह स्वप्न ख़याली नहीं है। हो न हो, यह कोई ईश्वरी घटना है। पिता की सब बातें उन्हें अच्छी तरह याद थीं। जितने अभियोग इनके पिता पर लगाए गए थे, वही वह अपने मे भी देखते थे, बल्कि जब अपनी दशा उनसे मिलाते, तो कहीं गिरी पाते।

उधर तो कुछ था भी, इधर वह भी नहीं। पूजा-पाठ तो दूर, आप फिरकर कभी देवालयो मे दर्शन भी न करते थे। जब कहीं मेला लगता और लोग देव-दर्शन को जाते, तो यह उन्हीं लोगों के दर्शन से आँखे सेका करते। अपनी ही आन-बान पर फूले न समाते। जब देखिए, कहीं भडकीले कपड़े पहने, पान-चबाए, लोगो की भीड़ चीरते हुए चले जा रहे हैं। कहीं टाँगेवाले पर बिगडते हैं—"अब तेरा घोड़ा है या गधा? चलता ही नही। अडा जाता है। खैर, मेले का वक्त करीब है, इतना तो कर कि आगे जो इक्का जा रहा है, उसके बराबर लगाए चल। मर्द-आदमी, तुझे इनाम लेने का भी शऊर नही।"

कभी कोई आपको नमस्कार करता, तो ऐसे अकड़ जाते जैसे सूखा चमडा। यदि कोई दर्शनों के लिये ज़ोर देता, तो बोल उठते—"अजी शास्त्रों को मानते हो तो फिर क्या? ईश्वर सर्वव्यापी है। उसके स्मरण ही से पाप का क्षय हो जाता है। जब मन चंगा, तो कठौती में गगा।"

पडितजी के सोकर उठने का यह हाल था कि जब तक सूर्य नारायण तीस डिगरी पर न आ जायँ, आप शय्या नहीं छोडते थे। सध्या-पूजा का समय ही नहीं मिलता था। पर-मार्थ का क्या कहना? किसी दीन-दुखिया को देखते, तो सहा-

यता करना तो दूर रहा, ऊपर से टिप्पणी करते कि वह अपने पूर्व-जन्म का फल भोग रहा है। हम इसका दुःख कम करके ईश्वरेच्छा सफल होने मे बाधक क्यो हों? और यदि भूले-भटके दो-चार बार पूजन भी किए हैं, तो अन्यमनस्कता, आलस्य और अप्रतिष्ठा के साथ। यदि कभी व्रत करने का सौभाग्य प्राप्त हुआ है, तो दिखावे के लिये। कभी किसी भूखे, नगे पर दया आई, तो वह चीज दी जो अपने काम की न थी। और उसे यो निष्फल किया कि एक बार देकर सौ-सौ बार अपना एहसान जताया, और समझा कि बेचारे दरिद्र को जीवन-पर्यंत के लिये मोल ले लिया।

चूँकि पिता हाल ही मे सिधारे थे, इससे इनको पितृ-पक्ष के कृत्य का कुछ क्लेश न हुआ था, नहीं तो न-जाने इनकी क्या दशा होती। हाँ, जब यही हाल था, तो ऐसे अवसर पर किसी डॉक्टर की राय से जुल्लाब ले लेते और दस्त का बहाना करके खाट पर पड़ रहते। लोक-लज्जा भी बड़ी चीज है। मालदारो की तो दुर्गति बना देती है। मगर उन्हीं की जो आलस्य-मय शंका उठाया करते हैं।

देश-सेवा के सबध मे चुप रहना ही अच्छा है। यों तो किसी को कुछ कहने का अवसर ही न देते, और जो कभी कोई कह भी पाता, तो आप आत्मा को दोषी बनाकर स्वयं निर्दोष

बन जाते। कहते—"भाई, बात तो ठीक है परंतु क्या करूँ, आत्मा गवाही नहीं देती। इसी से विवश हूँ, और ज़रा...।" कहने का तात्पर्य यह कि जहाँ तक पंडितजी की प्रशंसा की जाय, कम है। आपका नंबर बाप से भी आगे था। फिर कहना ही क्या है—"बाप एढ़ा, तो पूत डेढ़ा।"

शिवदत्तजी जहाँ तक देखते थे, अपने को धर्म से एकदम पतित, ईमान से दूर, मुक्ति से परे तथा विनाश और क्लेश के समीप पाते थे। यदि अपने पिछले कर्मों की ओर ध्यान देते, तो यही पाते कि कहीं एक पुण्य है,तो साथ-ही-साथ हज़ारों पाप। सारांश यह कि आपने कोई पुण्य-कार्य कभी शुद्ध-चित्त से नहीं किया था।

इस चिन्ता ने शिवदत्तजी के हृदय पर वह प्रभाव डाला कि वह विवश होकर रो उठे। कहने लगे—"हे परमेश्वर, मुझसे भी अधिक दुर्बुद्धि, पामर, दुष्ट, पापी, नास्तिक कोई मनुष्य होगा? मैंने अपना सारा जीवन व्यर्थ खो दिया और तुम्हें बिलकुल ही भुला दिया। क्या अच्छा होता, यदि मेरा अस्तित्व ही न होता, और होता भी तो पैदा होते ही काल का ग्रास हो जाता। क्यों न मेरे ऊपर कोई ऐसी आपत्ति पड़ी कि मुझे सिर खुजलाने का भी अवकाश न मिलता? हाय! मैं कितना बड़ा अपराधी हूँ। मुझपर बिजली क्यों न गिरी? आकाश

क्यों न टूट पड़ा? मुझको साँप क्यों न सूँघ गया? मैं निर्लज्ज हैज़े की आपत्ति से भी उठ बैठा। धिक्कार है मुझे, यदि फिर कभी उस ओर फटकूँ। फिटकार है, यदि फिर कभी ऐसी धारणा करूँ।"

ऐसा निश्चय करने के बाद उन्हें अपनी पिछली बातें फिर याद आ गईं। कहने लगे—"मैंने जो अपना समस्त जीवन इस हीन दशा मे नष्ट किया है, इसका प्रायश्चित्त मेरे हाथों में अब नहीं है। यदि मैं इन पापों के लिये नरक के कठोर कारागृह में न डाला जाऊँ और वहाँ के धधकते हुए अग्नि-कुंड मे न झोंका जाऊँ, तो बड़ा ही अन्याय होगा। मैं पाप भी करूँ और उसका फल भी न भोगूँ।"

शिवदत्त पर इस समय इतना प्रभाव पड़ा कि मृत्यु तो उनके आगे अब कोई वस्तु ही नही रही। घर-भर तो उनके उठ बैठने का हर्ष मना रहा था, और उन्हे इस बात का बड़ा खेद था कि मैं मर क्यों न गया? बीमारी के कारण उनमें उठने की शक्ति नहीं थी, परंतु तकिए पर पड़े-पड़े औंधा सिर किए मन मे कह रहे थे—"हे दीनानाथ, मैं तो इसी योग्य हूँ कि नरक की धधकती हुई आग में जीवित ही झोंक दिया जाऊँ। परंतु हे भगवन्, आपने यदि फिर कुछ दिनों के लिये जीवन-दान दिया और संसार में रख लिया, तो अब ऐसी सुमति

दीजिए कि अब से जो कार्य करूँ, शुद्ध चित्त से करूँ और आप ही की वंदना मे सर्वदा लीन रहूँ। मेरा जीवन धर्म-मार्ग में एक आदर्श हो।"

जब इधर से ध्यान टूटा, तो परिवार की ओर ध्यान गया। देखा तो इंदुमती और सब बच्चे एक ही रंग में रँगे हैं। वह भी किसी से कम नहीं। एकदम धर्म से विपरीत। यह दूसरी चोट उनके कलेजे पर जा लगी। वह सोचने लगे—"हाय! मैं तो नष्ट हो ही चुका था, इन बेचारों का भी सर्वनाश किया। इनके धर्म-मार्ग में भी मैंने बाट मारी। मैंने क्या कुछ कम पाप किए थे जो इन्हें भी समेट लिया? आप-के-आप गए और मेहमान को भी समेटते गए। ईश्वर ने मुझे घर का सरदार बनाया था और इतने लोगों को मेरे सुपुर्द किया था। हाय! मैंने अमानत की वस्तु को भी मिट्टी में मिला दिया। हाय-हाय! मैं अब इसका क्या उत्तर दूँगा? ये लोग मेरे अधीन और मेरे आज्ञाकारी थे। मैंने अपना बुरा उदाहरण देकर इन्हें भी सन्मार्ग से हटा दिया। यदि मैं इस बात पर पूरा ध्यान रखता, तो आज इनकी यह दशा क्यों होती? जो हुआ सो तो हुआ ही, मैंने इनकी भावी संतान को भी बिगाड़ दिया। अब जो इनकी संतान होगी, वह भी ऐसी ही होगी। क्योंकि माता-पिता के संस्कारों का उनकी संतान पर

प्रबल प्रभाव पड़ता है। मैंने देश का बड़ा भारी अपराध किया है। जो साधु हैं, वह अपना आदर्श-जीवन दूसरो के लाभ के लिये छोड़ जाते हैं। मगर मैंने सिवाय बुराई के नेकी का बीज तो बोया ही नहीं। मै बड़ा भारी अभागा हूँ। जब ये लोग ईश्वर के आगे उत्तरदायी होंगे, तो कहेगे कि हमें कोई अच्छी शिक्षा देनेवाला मिला ही नहीं। हाय! उस समय भी मैं ही अपराधी माना जाऊँगा। हाय! शिवदत्त, तब तू क्या जवाब देगा?"

यह सोचकर फिर एक बार चिल्लाकर रो उठे। फिर ढाढ़स बाँधी और यह निश्चय किया कि जितने लोग मेरे परिवार मे हैं, मैं सबको सन्मार्ग पर लाऊँगा। ईश्वर से प्रार्थना की कि "हे विश्वंभर, आप मुझे इस प्रतिज्ञा मे परिपूर्ण कीजिए ताकि कोई बाधा न पड़े। मेरी बातो में वह शक्ति दीजिए कि लोगो पर मेरे कहने का प्रभाव पूरी तरह से पड़े, और मेरी प्रतिज्ञा मे दृढ़ता का प्रवेश तथा हृदय में अपना प्रकाश प्रदान कीजिए।"

शिवदत्तजी को ऐसी ठोकर नहीं लगी थी जिसे वह भूल जाते। यद्यपि एक कुटुंब की सुधार टेढ़ी खीर था, तथापि उनको इस बात का निश्चय था कि हम अपनी प्रतिज्ञा मे यदि दृढ़ता से काम करेगे, तो अवश्य सफल होंगे। वह जानते

थे कि यहाँ तो घर-का-घर आफताब हो रहा है। किसी ने धर्म की बात अभी तक सुनी भी न होगी। उन्हें यह भी मालूम था कि घर-भर एक ओर होगा और मैं एक ओर। नक्कार खाने में तूती की आवाज! अकेला चना क्योंकर पाप के भाड को फोड सकेगा।

अतः वह इस विचार में डूबे कि अब वह किसको अपना सहायक बनावें। अंत में यही मन में आया कि एक परिवार के बचाने के लिये सिवाय स्त्री के और कोई इस काम के योग्य नहीं हो सकता। ईश्वर की कुछ पहले ही से इस परिवार पर दया-दृष्टि थी कि शिवदत्तजी ने अपनी स्त्री को कुछ पठन-पाठन का भी अभ्यास करा दिया था।

जिस समय शिवदत्तजी का ब्याह हुआ था, उन्हीं दिनों स्त्री-शिक्षा का भी प्रचार प्रारंभ हुआ था। स्त्रियोपयोगी नवीन पुस्तकें हाल ही में प्रकाशित हुई थीं। शिवदत्त ने उनको बड़े प्रेम से देखा था और उनका हृदय इस बात को मान गया था कि स्त्रियों को पढाने-लिखाने में अधिक लाभ है। विद्या के बल से इसी लोक के लिये नहीं वरन् परलोक के लिये भी हितकर है। जहाँ कहीं शिक्षा की आवश्यक और गूढ़ बातें पाते, अपनी स्त्री को स्वयं पढ़कर समझाते थे। भलाई का विषय सबको अच्छा मालूम होता

है। पत्नी ने भी इसे स्वीकार किया कि स्त्रियो के लिये विद्या परमावश्यक है । बाल-बच्चों का कुछ बखेड़ा नहीं था। इंदुमती ने निश्चित होकर अपने पतिदेव से पढ़ना आरंभ किया । वह चार ही महीने में लिखने-पढ़ने लगी। तब से अब तक कुछ-न-कुछ सिलसिला जारी ही था।

शिवदत्त को यह बात बहुत ही भली मालूम हुई और समझे कि स्त्री भी ईश्वर की दया से यथा नामा तथा गुणा है। उसका समझ लेना तो कोई कठिन समस्या नहीं है। रहे बच्चे। जिनकी अवस्था अभी बहुत थोड़ी है, वह शिक्षाओं को अभी भले प्रकार से ग्रहण कर सकते है। टेढ़ी खीर तो बड़ी अवस्थावालो की है। एक बेटा और एक बेटी व्याहे जा चुके हैं। ये दोनो अपने-अपने घर के हैं। किसी पर मेरा वश नही। वश हो भी, तो दोनों की युवावस्था है, मैं इन्हे मार सकता नहीं, धमकी भी नहीं दे सकता ; निरा समझाना ठहरा, और वह भी इस अवस्था मे बुड्ढे तोते का पढ़ाना हुआ । आखिर कहेगे ही कि पहले तो सूझी नहीं, अब लगे शिक्षा देने । यदि मैं कुराह पर था, तो पहले ही क्यों नहीं बतला दिया ? अब जो कुछ तुमसे सीख चुका हूँ, भला वह कैसे छूटेगा ? इसके अपराधी तो साक्षात् आप ही हो। अब व्यर्थ क्यों सिर खपाते हो ?

यह सोचते ही शिवदत्तजी की आँखों से आँसू टपक पड़े। उन्होंने यह समझा कि इन दोनो का पलटना नदी के प्रवाह का फेरना है। अधिक दुःख उन्हें इस बात का था कि उन दोनो के आगे ईश्वर की कृपा से संतान हैं। जिस प्रकार मेरे पापो ने मेरी संतान पर ऐसा बुरा प्रभाव डाला, क्या इसी प्रकार इनकी संतान पर ऐसा प्रभाव नहीं पडेगा? परंतु इस पर भी शिवदत्तजी ने दृढ़ प्रतिज्ञा कर ली कि चाहे जो हो, किसी प्रकार मे उन्हे राह पर लाऊँगा। यदि मैं सफल न हुआ, तो क्या? जहाँ तक अपने से हो सके, उठा न रखना चाहिए। या तो वह इस मार्ग पर आएँगे या जीते जी उन्हें त्याग दूँगा। जो नाता आज तक बँधा था, उसे तोड़ दूँगा। जो ईश्वर का नहीं, वह पहले मेरा नहीं।

मँझली बेटी और मँझले बेटे पर भी शिवदत्तजी का पूरा विश्वास न था। जानते थे कि उनके साथ भी माथे का पसीना एड़ी तक पहुँचाना होगा। किंतु उनकी प्रतिज्ञा ऐसी दृढ़ थी कि कोई भी बात उन्हें कठिन नहीं मालूम पड़ती थी। उत्सुकता के कौतूहलवश यही चाहते थे कि हथेली पर सरसों जमा लें। अभी अच्छी तरह उठने-बैठने की भी शक्ति न थी कि उन्होंने स्त्री से कहा—"थोड़ा-सा पानी गरम कर दो। मैं नहा लूँ।"

स्त्री—क्या अंधेर करते हो! पैर में ज़रा दम तो आने

दो। स्नान की ऐसी कौन-सो सायत मारी जाती है। जब चलनें-फिरने लगो, तो जितना जी चाहे, नहाते रहना।

शिव०—मैं देव-स्मरण करूँगा। बीमारी से वस्त्र खराब हो गए हैं। ऐसी दशा से ऐसा काम करने के लिये दिल नहीं मानता।

स्त्री—क्या अच्छे होने की मन्नत मानी थी?

स्त्री ने जो इस प्रकार देव-स्मरण का नाम सुनकर आश्चर्य प्रकट किया, तो इसे देख शिवदत्त पर घड़ों पानी पड गया। वह मन मे कहने लगे—"हे परमेश्वर, मुझमे और देव-स्मरण मे इतनी दूरी कि गृहिणी सुनकर आश्चर्य कर रही है?" उन्होंने एक ठढी साँस खींचकर स्त्री से कहा—"यदि मैं मन्नत माननेवाला होता, तो भले ही दिन न होते।"

स्त्री—मन्नत नहीं, तो फिर क्या जल्दी है? देवता कहीं भागे जाते हैं? भली भाँति स्वस्थ हो लो, फिर जो-भरके पूजन करना।

अब शिवदत्त वह शिवदत्त न रहे, जो स्त्री को इस प्रकार पूजन-सबध मे विवाद करते देखते और नाराज न होते। क्रोध तो आया, परतु जी मे समझे कि इसमे इस बेचारी का क्या दोष है? जिसके पति की यह पामर दशा, वह स्त्री भला

कैसो हो ? सारा दोष तो मेरा ही है। मेरे ही कारण तो घर-का-घर बिगड़ा है।

इस समय स्त्री से अधिक विवाद करना उचित न समझकर इतना ही कहा—"हाय ! मेरे बुरे संबध ने तुम्हे कैसा बिगाड़ दिया कि ईश्वर के कार्य को तुमने खेल समझ लिया है।"

स्त्री के रोकने पर भी शिवदत्तजी ने उठकर स्नान किया और कपड़े बदलकर कुछ देर ईश्वर का ध्यान किया। आज इनका पहला अवसर है, जो उन्होने एकाग्र-चित्त होकर ईश्वर का ध्यान किया है। लज्जा के मारे उनकी आँखे ज़मीन में डूबी जाती थीं। सिर भी नीचे झुका हुआ था। नेत्रो में अश्रु-धारा जारी थी। भय इतना समा गया था कि ज़रा भी हिलते-डोलते नहीं थे। मूर्तिवत्त चुपचाप बैठे रहे। लेकिन कमज़ोरी के कारण झुक भी पड़ते थे। यदि उस समय उन्हे कोई देखता तो ऐसा कोई भी कलेजा न होता, जो उन्हे देखकर मोम की तरह पिघल न जाता।

पंद्रहियों तक कमजोरी रही। इसके बाद तो शिवदत्तजी भले प्रकार से चगे हो गए। मगर बीमारी के बाद वह बिल-कुल बदले-से मालूम पड़ते थे। हमेशा कुछ-न-कुछ सोचा ही करते थे। व्यर्थ बकना, अधिक हँसना, इधर-उधर की बातों

से सहयोग करना उन्होंने एकदम छोड़ दिया था। इसी के साथ दया-भाव का भी प्रवेश उनके हृदय मे हो गया था। बीमारी के पहले वह ऐसे कठोर थे कि घरवाले उन्हे हौआ समझते थे। द्वार के भीतर पैर रक्खा और क्या छोटे, क्या बड़े, सबको इनका भय आ ग्रसता। यदि भूल से कोई चीज़ किसी अनुचित स्थान पर पड़ी रही और इनकी दृष्टि उस पर जा पड़ी, तो जलकर खाक हो जाते। फिर कोई इनकी घुड़को से बाकी न बचता। अटकल ही तो है, खाने में ज़रा भी निमक कम या अधिक हो गया, तो उस दिन मानो घर में निर्जला एकादशी हो गई। कितनी ही कटोरियां तोड़ी गई, और कितनी थालियों के टुकड़े-टुकड़े हुए, सारे मोहल्ले मे डुग्गी पिट गई कि आज खाना बिगड़ गया। बच्चों को बात-बात मे झिड़की, बात-बात में घुड़की। और अब यह हाल है कि इनके सिर पर बाजा भी बजाओ, तो इन्हे खबर नही। बल्कि इंदुमती बच्चों पर बिगड़ती और कहती—"कैसे सब बदचलन हैं! ज़रा डरते नही। देखो, सब की कसर एक ही बार निकाली जायगी।"

पहले तो इनका यह हाल देखकर लोगों को बड़ा खटका था। वह जानते थे कि बीमारी के कारण इनकी यह दशा हुई है। लोग बीमारी से उठकर चिड़चिड़े हो जाते हैं। परंतु

यहाँ तो स्थिति ही बदली हुई थी। कोई देखकर यह नही कह सकता था कि यह वही शिवदत्त हैं, बल्कि यह शक होता कि इसी शक्ल का कोई दूसरा है।

अब इनका यह हाल था कि जो कुछ सामने आ गया, ईश्वर को धन्यवाद देकर चुपके-से खा लिया। जो मिल जाता उसी में संतुष्ट रहते। इसी के साथ-साथ लोगों का व्यवहार भी बदल गया। जो लोग पहले इनसे डरते थे, अब वे ही इनका सम्मान करने लगे। जिनको इनसे ईर्षा थी, अब वे ही इनसे प्रेम करने लगे। थोड़े ही दिनों मे घर मे शांति निवास करने लगी।

पहले तो इन्हें पूजा-पाठ करते देख लोगो के हृदय में शंका होती, परंतु अब तो उनके हृदय पर स्वयं इसका प्रबल प्रभाव पड़ने लगा। शिवदत्तजी भी इसी आशा में थे कि पहले इसके प्रभाव को देख ले, फिर रचनात्मक कार्य आरंभ करें।

अब शिवदत्तजी दिन-भर अपने घर ही में रहते थे। न किसी से अधिक बोलना न चालना। घर मे भी यदि कोई ऐसी आवश्यकता पड़ती, तो अंदर जाते, नही तो बाहर ही बैठक में बैठे रहते। लोगों का विचार था कि बीमारी से अधिक कमजोरी हो गई है। परंतु जो वास्तविकता थी, वह तो वे ही जानते थे।

इंदुमती जब उनके कमरे में जाती, तो उन्हें शास्त्रों का अवलोकन करते अथवा ध्यानावस्थित देखती। वह अपना सारा समय इसी मे बिताने लगे।

चौथा परिच्छेद

रोना चाहिए, तो अपने कर्मों पर

इसी प्रकार से कुछ दिन बीते, परंतु इंदुमती की समझ में यह बात बिलकुल न आई। आखिर एक दिन बहुत ढाढ़स करके शिवदत्तजी से पूछा—"प्राणनाथ, कहो चित्त तो प्रसन्न है? बैठे-बैठे क्या तुम्हारा मन नहीं ऊबता? थोड़ी देर के लिये नीचे भी उतर आया करो, ताकि कुछ टहलने-फिरने से हृदय प्रफुल्लित रहे। बाल-बच्चों में कभी-कभी मन बहलाया करो। मुझे तो घर-गिरिस्ती के धंधों से अवकाश नहीं मिलता कि कुछ देर बैठकर तुम्हारा जी बहलाया करूँ।

शिव०—प्रिये, यह बड़ी निंदा की बात है। जब से मैं बीमारी से उठा, तुमने आज तक यह नहीं पूछा कि क्या हुआ और क्योंकर हुआ? क्या तुम्हें मेरे स्वभाव में कुछ परिवर्तन नहीं ज्ञात होता?

इंदु०—रात-दिन का अंतर और धरती-आकाश का भेद। मैं पूछने ही वाली थी, मुँह तक बात आ-आकर रुक जाती थी। तुम्हारा ढंग देखकर भय मालूम होता था। यही शंका उठती थी कि पूछूँ या न पूछूँ?

शिव०—ढंग कैसा ?

इंदु०—बुरा मानने की बात नहीं। तुम्हारा स्वभाव तो पहले ही से तेज़ है। योंही हम सब लोग डरते रहते हैं। जब से तुम बीमारी से उठे हो, सब को भय है। एक तो करेला, दूसरे नीम-चढ़ा। इधर जो देखा, तो स्वभाव मे ऐसा परिवर्तन पाया। समझे कि अवश्य कोई बात है। फिर किसकी मजाल जो तुमसे कोई प्रश्न करे!

शिव०—क्यों, तुमने भी तो ऐसे परिवर्तन पर कुछ ध्यान न दिया ?

इंदु०—बात करने को तो हिम्मत ही न पड़ी, भला यह बात क्योंकर पूछती ?

शिव०—किंतु इन दिनों मेरा प्रकोप तो किसी पर नहीं हुआ ?

इंदु०—इसी का तो लोगों को और भी आश्चर्य है।

शिव०—आखिर लोग इसका कारण क्या बताते हैं ?

इंदु०—ऐसी बीमारी से बचना मानो काल के मुँह से निकलना हुआ। तुम्हारे ज्येष्ठ पुत्र का कहना है कि डॉक्टर ने जो दस्त बंद करने को औषधि दी, उससे मस्तिष्क मे कुछ गर्मी आ गई। यही सब किसी को राय है कि यह रोग है, और इसकी चिकित्सा करनी आवश्यक है।

शिव०—न तो गर्मी है, न कोई रोग। हाँ, भय अवश्य है।

इंदु०—मर्द होकर इतना भय? आखिर हम लोग भी तो इसी विपद् मे थीं।

शिव०—तुम कदापि ऐसी विपद् में नहीं थीं।

इंदु०—अर्थात् यह कि मुझे हैजा नही हुआ। किंतु तुमको हैजा होना मेरे मरने से भी अधिक भयानक था।

शिव०—नहीं, यह बात नहीं। बीमारी यद्यपि कड़ी थी, तथापि मैं तुमसे सत्य कहता हूँ कि आदि से अंत तक मेरी बुद्धि में किसी प्रकार की बाधा नहीं पहुँची। मैं सब कुछ समझता रहा और मुझे सब कुछ भले प्रकार से याद भी है। वैद्य और डॉक्टर का आना और मुझे औषधि पिलाना, यह सब मुझे मालूम है। दवा पिलाने के बाद जो मुझे नींद आई, तो मैंने अपने को एक दूसरे ही संसार में पाया।

इसके बाद इन पर जो कुछ बीती थी, इन्होंने उसे सब अपनी स्त्री से कह सुनाया।

पुरुषों की अपेक्षा स्त्रियों का हृदय बहुत ही निर्मल और कोमल होता है। यही कारण है कि उनके हृदय मे धार्मिक शिक्षा का प्रवेश शीघ्र होता है। इंदुमती ने जो स्वप्न की

बातें सुनी, तो इतनी भयभीत हो गईं कि निकट था कि वह बेहोश होकर गिर पड़तीं। शिवदत्त अपने पापों को सोचकर एकांत में बैठे-बैठे कभी दिन में दो-चार बार रो लेते थे (परंतु किसी के सामने नहीं), पर उनका हृदय सर्वदा आँसू बहाया करता था। स्त्री का ऐसा भाव देखकर और सहायता की आशा सोचकर वह इतना रोए कि उनकी घिग्घी बँध गई। इंदुमती तो पहले ही से भयभीत हो रही थी, किंतु इस समय पति का रोना उसके लिये ऊँघते को ठेलते का बहाना मिल गया। उसने भी फूट-फूटकर रोना शुरू किया। फिर तो दोनो स्त्री-पुरुष इस प्रकार रोए, जैसे सावन-भादों का मेघ।

वह भी एक शोचनीय दशा थी जब दोनो अपने पापों को सोचकर इस प्रकार पश्चात्ताप करते थे। शिवदत्त ने अंत में अपने को सँभाला और स्त्री को ढाढ़स दिलाकर कहा कि "यदि संसार में किसी वस्तु पर रोना चाहिए, तो अपने पापों पर; क्योंकि कोई भी दुःख या आपत्ति इससे बढ़कर नहीं है। दुनिया की और चीज़ों के लिये रोना व्यर्थ है। किंतु पाप पर रोना मानो इन धब्बों को धोना है। यह रोना यदि अंतःकरण से है, तो पापियों के लिये हितकर है। परंतु सबको अपने भविष्य के लिये भी कुछ प्रबंध करना परम आवश्यक है। लज्जा तो

वही है, जो बाद को सुधार करे। रोना या पश्चात्ताप वही पश्चात्ताप है कि मनुष्य जो मन में सोचे या ज़बान पर लावे, वैसा ही कर दिखावे।

इंदु०—परंतु इतना जीवन जो पापों में व्यतीत हुआ, इसके उद्धार की तो कोई आशा नहीं। मैं तो यही समझती हूँ कि मेरा रोना अब उपाय के बाहर हो गया।

शिव०—ईश्वर की असीम दया से इस प्रकार निराश होना भी पाप है। वह दीनानाथ और दयानिधान हैं। उन्हें हमारे स्मरण या पूजन की कुछ भी परवाह नहीं है। यदि संसार के समस्त प्राणी उसके विपरीत काम करें, तो भी उसके कार्यों में किसी प्रकार की अड़चन नहीं पड़ सकती—बाल-बराबर भी अंतर नहीं हो सकता। इसी प्रकार यदि तमाम आदमी शुद्धचित्त हो जायँ और पाप का नाम भी न लें, तो भी उसकी मान-मर्यादा कुछ इससे बढ़ न जायगी, यह आपत्ति जो हम पर आई है, हमारे ही सुधार के लिये है। ईश्वर का हृदय इतना कोमल है कि कोई इतना ही बड़ा पापी क्यों न हो, यदि वह कभी शुद्ध-हृदय से अपनी शुद्धि के लिये उस परमात्मा से प्रार्थना करे, तो करुणा-सागर उसे अवश्य क्षमा कर देगा। वेद-शास्त्र सब उसकी प्रशंसा करते हैं, तो भी पार नहीं पाते।

इंदु०—दयावान के साथ ही वह न्यायी भी तो है। क्या

यह संभव है कि हम पाप करें और भुगतना न पड़े ? मैंने माना कि उसकी दया बढ़कर है। फिर भी हमारे पापों की हद भी है ? दो-चार को कौन पूछे, यहाँ तो अगणित पाप हमारे सिर पर लदे हैं। भला जब कोई वारापार ही नहीं, तो प्राणनाथ, क्योंकर मोक्ष की आशा की जाय ? मा-बाप को जैसी संतान की ममता होती है, वह तो प्रत्यक्ष ही है ; किंतु देखो तो गंगा की चाल कैसी ख़राब हो चली है। आख़िर तुम्हारा मन खट्टा तो हो गया है, मैं भी हार बैठी। कहाँ तक सहन किया जाय ?

शिव०—देखो ईश्वर के संबंध में इस प्रकार से निराश होकर ऐसा सोचना हमारी सरासर भूल है। यदि ईश्वर सब के पापों पर ध्यान देता, तो फिर दुनिया काहे को बसती ? जीव दिन-रात हज़ारों, बल्कि लाखों पाप करते हैं, परंतु वह ऐसा दयावान् है कि एक बार भी विशुद्ध रूप से उसे स्मरण करने से हमारे सब पापों को वह धोकर हमें शुद्ध बना देता है। परंतु हम ऐसे अभागे हैं कि फिर बार-बार ऐसे कामों को करके अपने को कलंकित करते रहते हैं। इसपर भी देखो कि वह हमें सब कुछ दिया करता है। कभी वह हमारे पापों से असंतुष्ट होकर वायु तो नहीं रोक देता ? पानी तो नहीं सुखा देता ? दिन को रात और रात को दिन तो नहीं बना देता ?

हमारे सुख में किसी प्रकार की बाधा तो नहीं डालता ? जो कुछ हमे अड़चन पड़ती है, उसके मूल कारण तो हमी हैं। जिन-जिन वस्तुओं को उसने हमें सुपुर्द किया है, देखो वह तो बराबर हमारा कार्य किए जाती हैं। हम उसका गुण-गान कहाँ तक कर सकते हैं ? बस, यही समझ लो कि यदि हमारे समस्त रोम जिह्वा हो जायँ, तो भी हम अपने कर्तव्य का एक अंश भी पूरा नही कर सकते। भला यह कैसे हो सकता है कि बस विश्वेश्वर से प्रार्थना की जाय और वह क्षमा न करे ?

उसी क्षण दोनो ने हाथ फैलाकर ईश्वर से बहुत गिड़गिड़ाकर अपनी मुक्ति के लिये प्रार्थना की। इस पश्चात्ताप के पश्चात् इंदुमती के हृदय में बहुत कुछ शांति हुई और वह धैर्य के साथ बाते करने लगी। परंतु इस पर भी शिवदत्त की वही दशा थी।

यह स्थिति देखकर इंदुमती ने पूछा—"नाथ, जब पश्चात्ताप करने से निश्चय है कि हमारे पाप दूर हो जायँगे और जब भविष्य के लिये हम प्राण-पण से पण करते हैं, तो फिर क्या कारण है कि आप फिर भी उदास हैं ?"

शिव०—प्रिये, प्रायश्चित्त के स्वीकार होने की रजिस्ट्री तो हमारे नाम हुई नहीं, न हमे इसमें किसी प्रकार का अधिकार

ही है। यदि वह इसे स्वीकार करे, तो यह उसकी परम दया है; और यदि न करे, तो यह उसका खरा न्याय है। इसमे तो हमे किसी बात की दलील ही नहीं है। भविष्य के लिये भो मनुष्य का क्या भरोसा ? यदि हमारे कामो मे ईश्वर न सहायक हो, तो भला हम कब परिपूर्ण हो सकते हैं ? क्योंकि सब कामो का कर्ता-धर्ता तो वही है। मेरे दुःख का यही कारण है कि मुझे किसी प्रकार से शांति नहीं मिलती।

इंदु०—कारण ?

शिव०—यह कि मै तो बिगड़ा ही था मैंने इन बच्चो को भी नष्ट किया। मेरी देखा-देखी यह भी गए-बीते। तुम देखती हो कि छोटे-बड़े सब एक रंग मे रँगे हैं। भला जब घर में कभी पूजा-पाठ को चर्चा ही न हो, तो उनके हृदय मे क्या यह बात आकाश से पहुँच जाती ? सच्ची बात तो यह है कि मैं उनको इस विषय में हर प्रकार से सहायता देता आया। हाय ! मैंने इनके मार्ग मे काँटे बोए। इनसे शत्रुता को और जाना कि मैं इनकी भलाई करता हूँ। यदि मैं ध्यान करता हूँ, तो सिवाय मेरे और इनके बिगड़ने का कोई कारण नहीं दीख पड़ता। मैं कभी इसके योग्य न था कि ऐसे परिवार का स्वामी बनता और लड़को का बाप होता। यह मेरे अभाग्य और उनके पूर्व-जन्म के पाप का परिणाम था, जो उन्होनेमेरे

यहाँ जन्म लिया। जब वह एकदम बच्चे थे, उसी समय मैं मर क्यों न गया? ताकि उन्हें कोई योग्य पुरुष पालता और वह मेरे इस लाड़-प्यार से वंचित रहते। अंधेर है कि ये भले घर के बच्चे कहाएँ और शिक्षा-सदाचार से हाथ धोए रहें तथा पाजियों का चाल-चलन रक्खें। अब तो मुझे उनकी सूरत भी जहर मालूम होती है। एक को देखो तो वह उरद के आटे की तरह ऐंठा करता है। कभी सीने पर नजर, कभी बाजुओं पर। मनुष्य-योनि में जन्म लेकर लक्के कबूतर का पट्ठा बना फिरता है। इतना अकड़ा करता है कि गरदन गुद्दी में जा लगी है। कपड़े इस तरह चुस्त कि मानो बदन पर सिए गए हैं। टोपी इस तरह की कि आधी गिरी ही रहती है। यह तो पहले की दशा है, दूसरे का तो कहना ही क्या है? बड़े मियाँ बड़े मियाँ, छोटे मियाँ सुब्हान अल्लाह! सवेरे उठते ही कबूतरों को खोल बाप-दादे के नाम उछालने को कोठे पर चढ़ जाता है। फिर सवा पहर दिन-चढ़े तक ऊपर धमा-चौकड़ी मचाए रहता है। मारे बाँधे जो स्कूल गया, तो यही सोचा करता है कि कब छुट्टी मिले, और घर चलें। शाम हुई और फिर कोठा है और पतंग। चिराग़ जलते ही शतरंज बिछ जाती है। छुट्टियों के दिन का पूछना ही क्या है। तीसरे का नंबर इससे भी बढ़ा हुआ है। सारे महल्लेवाले इससे व्याकुल रहते हैं। कभी यहाँ मार-पीट, कभी

वहाँ दँगा-फिसाद, कहीं इसका सिर फूटा, कहीं उसका पैर टूटा, दिन-भर यही किए रहता है। उस पाजी को तो रात में भी नींद नहीं आती—स्वप्न में भी हाथ-पैर चलाता और गालियाँ बकता रहता है। इसके कारण सर्वत्र त्राहि-त्राहि मची रहती है। कहने का तात्पर्य यह है कि सब एक-से-एक बढ़े-चढ़े हैं। कोई बेहयाई मे सरदार है, तो कोई ढिठाई मे। कोई गालियों मे बाज़ी मारता है, तो कोई बदमाशी में खरा निकलता है। एक कहता है कि "भला मुहल्ले मे कोई मेरी जोड का है?" तो दूसरा बोल उठता है—"हटो-हटो, तुम क्या टे-टे किए जाते हो, यहाँ खुद मास्टर लोग दबे रहते हैं, तो लड़को की क्या गिनती। यह किस पसगे मे हैं? जहाँ देखा कि धोती ढीली हुई।"

यह सुनकर तीसरा भी डींगे मारने लगता है—"अजी जिस समय हम तुम्हारी अवस्था के थे, उस समय किसी को क्या मजाल जो हमारी तरफ़ ज़रा आँख तो उठाकर देखे। कितनों के सिर तोड़े, कितनों को अस्पताल के हवाले किया, मगर तिस पर भी हमारा कोई बाल बाँका न कर सका। ठीक है, ज़बर्दस्त की लाठी सिर पर।"

इन सबों को देखकर मेरी आँखों मे ख़ून भर आता है। ज़रा-सा भी इनमें सदाचार का लेश नहीं। हर बात में कसमें खाया करते हैं। क़समें क्या हुई मानो इनका साँझ-सबेरे का जलपान है।

"रहो लड़कियाँ, हाँ इनमें ऐसी बातें तो न होंगी, लेकिन साथ-ही-साथ मुझे विश्वास है कि किसी को भी अपने धर्म से प्रेम नहीं। उनको भी बहुधा गुड़ियो में लीन पाता हूँ। यदि कहीं पड़ोस में ख़ुशी हुई, तो अपने सिंगार ही पिटार मे भूली रहती हैं। लड़के गालियाँ बहुत बकते हैं, तो लड़कियाँ कोसना ख़ूब जानती हैं। जैसे वे कसमें खाने में निडर हैं, वैसे ही ये कोसने मे बेधड़क हैं। क्या लड़के क्या लड़कियाँ, न वह घर का काम देखें न यह। सब-के-सब पक्के रग मे रँगे हैं। मेरे निकट तो दोना एक ही तरह के हैं। इन सब की यह बुरी दशा देखकर मैं ज़हर के-से घूँट पीकर रह जाता हूँ। मगर फिर देखता हूँ, तो इन-का कुछ भी दोष नही है। दोष है, तो मेरा और तुम्हारा। प्यार के अतिरिक्त यदि कोई इनके हित की बातें कहता, तो तुम उससे चिढ़ जाती थीं। पहले बच्चों को तुम्हीं ने लाड़-प्यार में बिगाड़ा। हम कभी इनके सुधार के लिये बिगड़ते, तो तुम उससे फ़ौरन् हमसे लड़ खड़ी होतीं। हाय! माना कि तुम्हारा भी दोष है, परंतु मैं तो तुम्हारा भी सरदार था। क्यों नहीं, तुम्हे ऐसी शिक्षा दी कि तुम गिरिस्ती के कार-बार को अच्छी तरह से जान जातीं और लड़कों तथा लड़कियों के पालन-पोषण में हर प्रकार से उनके सुधार का ध्यान रखतीं?

इंदु०—हाँ, ठीक है अब मेरी समझ मे यह बात आई कि यह मेरे लाड़-प्यार ही इनकी सत्यानासी के कारण हैं। मैंने यह कही पढ़ा तो था, परंतु ध्यान नहीं दिया। यह बात भी अब समझी कि ध्यान न देकर पढ़ने से सिवाय पछतावे के और कुछ हाथ नहीं लगता। तुम मुझे इस प्रकार पढ़ने पर बिगड़ते थे, परतु मेरी बेपरवाही ऐसी थी कि तुम्हारे बार-बार मना करने पर भी ध्यान नहीं दिया। यदि ऐसा न करती, तो केवल मैं ही अपने इस दोष से न बचती, वरन् तुमको भी इस चिंता से दूर रखती। सत्य है, स्वामी अथवा अपने बड़ों का कहना न मानने का यही फल होता है।

शिव०—इसमें भी तो मेरा ही दोष था। मैंने क्यो तुमको इस प्रकार की स्वतन्त्रता दी जो तुम मुझसे विपरीत रहती थी। मैंने ही तो तुमको अच्छी-अच्छी साड़ियाँ और गहने पहनाकर ऐसा किया। मैंने ही तो तुम्हे घर का काम-धाम छुड़ाकर सुकमार और आलसी बना दिया। यदि पहले से इसका ध्यान रखता, तो आज क्यो यह रोना रोना पडता? हमारी संतान की यह दशा क्यो होती? तुम्हे भी इसका पूरा ध्यान रहता और मुझे भी तुमसे इन कामो में भी पूरी सहायता मिलती। ठीक है, बचपन की शादी का अंत में यही फल होता है। इस पर घर का लाडला और संपन्न।

इंदु०—परंतु जब मैं ध्यान-पूर्वक देखती हूँ, तो यही दिखाई देता है कि जो दोष है, मेरा ही है। मेरी बुद्धि पर ऐसा काला पर्दा पड़ा था कि मुझे किसी की भी हितकर बातें पसंद नहीं आती थीं। यदि तुम्हारा दोष एक-भर है तो मेरा दस-भर। अब भी उनकी जितनी बुराइयाँ मुझे मालूम हैं, तुमको नहीं मालूम। यदि मैं उनका वर्णन करूँ, तो तुम्हें बड़ा दुःख होगा। लड़के तो हैं ही, लड़कियाँ जो दूसरों के घर की ठहरी, कल वह अपनी ससुराल जाकर क्या कहेंगी? मुझे तो इसी की दुःसह चिंता है।

शिव०—आखिर अब क्या किया जाय?

इंदु०—मेरी समझ में तो अब इनके सुधार की आशा भी व्यर्थ है। इधर की दुनिया उधर हो जाय, तो भी वह सन्मार्ग पर नहीं आनेवाले। क्या तुम नहीं देखते कि गगा एक-एक की सौ-सौ सुनाता है? और एक उसी पर क्या! जितने बड़े हैं, उतने कड़े; जितने छोटे हैं, उतने खोटे।

शिव०—तो क्या फिर इन्हें इसी दशा में छोड़ दें कि पेट भरकर खराब हों?

इंदु०—बुड्ढे तोते का पढ़ाना पकी लकड़ी का लचकाना समझो।

शिव०—लेकिन तुम तो स्वयं कहती थीं कि इनका सुधा

रना हमारा परम कर्तव्य है और जब तक माता का सबंध है, तब तक तो तुम्हारे ही सिर पर इसका बोझ लदा है। एक दिन की बात याद आई, मैंने बड़े सवेरे नहीं मालूम किस बच्चे को चाहा कि बाहर वैद्य को तो जाकर दिखा दूँ। तुम उस समय उसका मुँह धुलाने को उठीं। मैं जल्दी करता था और तुम कहती थीं—"जरा ठहरो, मुँह धुला दूँ, कुरता बदल दूँ। इस हालत में ले जाओगे, तो वैद्यजी क्या कहेंगे?" कहेंगे घरवाली कैसी फूहड़ है, जो बच्चों को ऐसा गंदा रखती है?" वह बात तुम्हारी ठीक थी; लेकिन जब तुम्हारे बच्चे पाप की गंदगी मे सने हुए ईश्वर के पास जायँगे, तो क्या तुम वहाँ फूहड़ न बनोगी? भला यह तुमसे कैसे सहा जाता है कि लड़को को तबाही देखो और उनके बचाने का कोई उद्योग न करो? क्या बीमार को औषधि नहीं देते? या नासूर की चिकित्सा नहीं करते? यदि आज तक हम अँधेरे में रहे, तो जब आँखे खुलीं, तो फिर क्यो न इन पापो से बचने तथा बचाने का प्रयत्न करे?

इंदु०—यह सब मानती हूँ कि इनके सुधार का सारा भार मेरे ही ऊपर है, परतु यह बात मेरी समझ में नही आती कि ठढा लोहा भला पीटने से क्योंकर सीधा हो सकता है?

शिव०—अच्छा! हमारा धर्म है कि यथाशक्ति अपने से कुछ

उठा न रक्खे । इसका फल कुछ हमारे हाथ नहीं है । ईश्वर की जैसी इच्छा होगी, वैसा होगा । किसी कार्य के फल की शका में हमें अपना धर्म न छोड़ना चाहिए । क्या मालूम हमारी मेहनत का फल ईश्वर अच्छा दे ? क्या जब यह सुधर जायँगे तो इनको फूलते-फलते देख तुम प्रसन्न न होगी ?

इंदु०—इन बातों का हमारे-तुम्हारे बीच निर्णय होना एकदम असभव है । इसलिये कि हमारी हालत कुछ और है और तुम्हारी कुछ और । पहले तो बच्चों पर तुम्हारा रोब-दाब है । तुमसे फिर भी डरते हैं । और मेरे साथ तो सब-के-सब ऐसे निडर हैं कि बटियाँ तो ख़ैर, मुझे बराबर की सहेली समझती हैं, बेटे तो इतना भी नही जानते कि यह किस खेत की मूली है, और क्या बकती है ? दूसरे तुमको इनकी सारी बाते भले प्रकार से मालुम नहीं हैं, और मै इनकी नस-नस पहचानती हूँ ।

शिव०—हाँ यह सब सच है, लेकिन तुम्हारे कहने का सारांश यही है न कि अब उनका सुधरना कठिन है ?

इंदु०—फिर तुमने बात बदल दी । मैं तो शुरू ही मे असंभव और कठिन कहती आ रही हूँ । कठिन का कहना ही क्या है ?

शिव०—मै बड़ा हैरान हूँ कि इतनी देर से तुम से सि

खपा रहा हूँ; मगर तुम्हारी समझ मे मेरी बाते नहीं आतीं। भला असभव क्यों है?

इंदु०—यदि तुम कह रहे हो, तो तुम्हारा कहना मानने के लिये मैं तैयार हूँ; परंतु यदि मेरी सम्मति लेते हो, तो मैं निस्सदेह यही कहूँगी। कारण कि जब किसी कार्य को करते-करते मनुष्य की आदत पड जाती है, तो फिर लाख उद्योग किया जाय, उससे कुछ लाभ नहीं हो सकता। दूसरे यह कि बराबर के बेटे-बेटियों को मार हम सकते नहीं, घुड़क सकते नहीं, दबाव डाल नहीं सकते। भला फिर उनकी वह आदतें क्योंकर छुटाई जा सकती है जिनका वह लड़कपन से अभ्यास करते आए हैं?

शिव०—यह ठीक है, लेकिन जानती हो जब अँतड़ी बड़ी हो जाती है, तो कड़ा जुलाब भी देना पड़ता है।

इंदु०—किंतु यदि बच्चों के साथ ऐसा करोगे, तो सारी दुनिया थुड़ी-थुड़ी करेगी, और बच्चे भी हठ पकड़ लेंगे।

शिव०—मुझे दुनिया के कहने की कुछ भी परवाह नहीं। जो जिसके मन मे आवे, कहे। मैं इसे खूब समझता हूँ कि कठोरता का फल उलटा होता है। और जब हमीं ने उनको बिगाड़ा है, तो यह कठोरता भी हम पर ही होना चाहिए, न कि उन पर।

इंदु०—आखिर जब यही है, तो हुआ न वही कि होना-हवाना कुछ नहीं, व्यर्थ सिर मे पीड़ा मोल लेना है।

शिव०—डॉक्टर को देखो, वह कैसा निर्दयी होकर चीरता है, मगर फिर दयालु होकर मरहम-पट्टी भी करता है। इसी प्रकार जहाँ जैसा देखना, वैसा ही वहाँ करना चाहिए। कहीं नरिया कहीं गरिया। मैं ऐसा ही करूँगा। मुझे निश्चय है कि मैं सफलता प्राप्त करूँगा। सख्ती तो केवल इतनी ही करूँगा कि यह उनको समझ मे अच्छी तरह आ जाय कि जो धर्म का साथी नहीं, वह मेरा भी साथी नहीं। आखिर वह भी मनुष्य हैं, बुद्धि रखते हैं। क्या इतना भी न समझ सकेंगे कि कौन-सी बात उनके हित की है और कौन-सी अनहित की! मगर सब तो सब, बिना तुम्हारी सहायता के सब गुड़ गोबर हो जायगा।

इंदु०—मैं तन मन से तुम्हारी सेवा करने को तैयार हूँ। मैं समझती हूँ, कि तुम इनकी भलाई के लिये उद्योग कर रहे हो। यदि मैं ऐसी दशा में तुम्हारे कुछ काम न आई, तो मैं स्त्री काहे को, डायन हुई!!!

शिव०—देखो, बच्चों को पिता से बढ़कर माता का प्रेम होता है। इनका स्वभाव होता है कि हर विषय में माता से अनुमति लिया करते हैं। और जब पिता किसी बात पर बिगड़ता है, तो झट अपनी

माता के दरबार में अपील कर देते हैं। मैं तुम्हारा पति अवश्य हूँ, परंतु हर विषय मे तुम्हारी सहायता के लिये विवश हूँ। इसी से तो स्त्री को अर्धांगिनी कहते हैं।

इंदु०—लेकिन अब यह बात जाती रही। जब तक छोटे थे, तब तक मा समझते थे; अब तो दासी भी नहीं समझते। पुकारती-पुकारती रह जाती हूँ, फिरकर बात भी नही पूछते। लड़कियाँ अलबत्ता कहाँ जायँ। पर वह भी घर ही में तो रहती हैं, मगर खेल-कूद में इस तरह लीन रहती हैं कि रटते-रटते रह जाती हूँ, मगर घर का एक काम उठकर नहीं करतीं। हाँ, खाने की मालिक हैं। कभी यह भी नहीं सोचतीं कि चलो चलकर मा का साथ दें, उन्हें बड़ा काम करना पड़ता है। ईश्वर करे, तुम अपनी प्रतिज्ञा पूरी करो। मैं अपने सतीत्व की साक्षी देकर कहती हूँ कि सर्वदा आपके साथ-साथ चलूँगी, और अपने मन-प्राण से सेवा के लिये उद्यत रहूँगी।

शिव०—भला छोटे-छोटे बच्चो को तो सँभाल लोगी ?

इंदु०—इनका सँभालना कौन कठिन है ? यह तो मोम की नाक ठहरे, जिधर चाहा, घुमा दिया। दूसरे, बच्चों का स्वभाव है कि जैसा बड़ों को करते देखते हैं, वैसा ही वह भी अनुकरण करते हैं। अभी थोड़ी देर हुई, चुन्नी ने मुझको

रुला-रुला दिया। अवस्था देखो, तो छः वर्ष की, मगर बुढ़ियों की-सी बातें करती है। सुनोगे, तो तुमको भी आश्चर्य होगा।

शिव०—क्या हुआ था ?

पाँचवाँ परिच्छेद

आखिर मैं हूँ तो उन्हीं की बेटी

इंदु०—अब जो चुन्नो तुम्हें पूजा करते देखती है, तो मुझ से पूछती है—"अम्मा, बाबूजी यह क्या करते हैं ? फूलों को आगे रक्खे घंटी बजाया करते हैं। कभी नाक दबाते हैं, कभी बुद-बुद किया करते हैं। क्या मन-ही-मन बिगड़ते हैं और गुस्से में अपनी नाक पकड़ते हैं ? मगर अम्मा, जब वह हम लोगों पर नाराज़ होते है, तब तो कान पकड़कर मारते हैं। क्या नाक पकड़ने पर मारा नहीं जाता ? हमने देखा है, बाबूजो कभी-कभी कपार पटका करते हैं। दिया बारकर घुमाया करते हैं। हमे तो डर है, कहीं जल न जायँ। तुम मना क्यों नहीं करती ?

मैं—बेटो, वह कपार नही पटकते और न किसो पर बिगड़ते हैं। वह पूजा करते है। पूजन की यही विधि है।

चुन्नी—अम्मा, पूजा किस खेल का नाम है ?

मैं—बेटो, ईश्वर-वंदना को पूजन कहते हैं।

चुन्नी—ईश्वर कौन-सी वस्तु है, और उसका पूजन कैसा ?

कैसी भोली है। उसका इस रीति से पूछना था कि मेरे रोंगटे खड़े हो गए।

मैं—क्या तू ईश्वर को नहीं जानती ?

चुन्नो—लोगों को ईश्वर की सौगंध खाते तो अवश्य सुना है, और जब तुम बिगड़ती हो, तो यही कोसती हो 'तुम पर ,ईश्वर की मार हो", "इसका बदला ईश्वर ही लेगा।" मगर मेरी समझ में यह नहीं आया। क्या ईश्वर मउआँ है ? मगर मउओं की शपथ खाते तो हमने किसी को नहीं पाया।

मैं—राम-राम। अरे ईश्वर मउआँ वउआँ नहीं है। ईश्वर वही है, जिसने सबको पैदा किया है। वही हम लोगों का अन्नदाता है। वही पालनहार है, और वही संहारकर्ता भी है। सब कुछ वही है।

चुन्नो—क्या तुमको भी उसी ने पैदा किया ?

मैं—हाँ।

चुन्नी—और क्या हमारे मुनुआ को भी ?

मैं—हाँ-हाँ, कह तो दिया कि सब का पैदा करनेवाला वही है। खाना भी वही देता है।

चुन्नी—तो क्या अम्मा हमारे यहाँ खाना नहीं बनता ? तुम तो कहती हो कि खाना वही देता है, तो फिर यहाँ क्या होता है ? अगर वही देता है, तो फिर तुम हमें बिगड़कर यह क्यों कहती हो—"ले बच्चा खिला, हम तब तक भोजन

मना लें ?" और जब नहीं लेती, तो कुढ़ती हो—"खा लेना, तो मालूम होगा। दिन-रात खेल, जब देखो तब खेल, खेल ही से पेट भरेगा ? ले थाम, नहीं तो हम इसी मे फँस जायँगी तो खाना न-जाने कौन पकाकर आगे ठूँसने को परोस देगा ?"

मैं—सुन, ईश्वर ही पानी बरसाते हैं, जिससे अनाज, तरह-तरह के मेवे और तरकारियाँ पैदा होती हैं। वही तो हम सब खाते हैं। यदि वह ऐसा न करे, तो सब त्राहि-त्राहि करके मर जायँ।

चुन्नी—मगर अम्मा बच्चे को दूध तो तुम पिलाती हो।

मैं—दूध भी वही उतारता है। तुम्हारे वक्त तो वह दुःख उठाना पड़ा था कि याद करने से कलेजा काँप उठता है। छठी तक तो दूध खूब था, मगर नहाने के बाद से इस जोर का बुखार चढ़ा कि दूध ताव खा गया। लाख दवा की, कितनी छतावर फाँकी, जीरा पिया, कविराज की चिकित्सा कराई, लेकिन दूध जो सूखा, तो फिर न उतरा। आखिर लाचार आकर दाई रक्खी, जो तुम्हे दूध पिलाती थी। समझो कि ईश्वर ही ने तुम्हे पाला, नही तो तुम कभी की चल बसी थीं। ईश्वर न करे, ऐसी आपत्ति किसी शत्रु पर भी पड़े।

चुन्नी—तब तो अम्मा ईश्वर बड़े अच्छे हैं। हम सब को

खाना देते हैं। बच्चे के लिये दूध उतारते हैं। लेकिन अम्मा, उनसे हमारा कोई नाता भी है, जिससे वह हम पर इतनी दया रखते हैं? जरूर कुछ होगा, नहीं तो ऐसा क्यों करते?

मैं—नाता सब से बड़ा। वह हमारे मालिक हैं, हम सब उनके दास और दासियाँ हैं।

चुन्नी—मगर हम पर इतनी दया? इतनी नेकी तो कोई अपने बच्चों के साथ भी नहीं करता। अम्मा, नौकर-चाकर तो अपने मालिक की टहल में दिन-रात खड़े ही रहते हैं; परंतु हम लोग उनका कौन-सा काम करते हैं?

मैं—यही पूजा जो तेरे बाबूजी करते हैं।

चुन्नी—तब तो यह सब को करना चाहिए, क्योंकि जब यह उन्हीं का काम है, तो सब दास-दासियों का करना धर्म है। मगर अम्मा, तुमको तो हमने पूजा करते कभी नहीं देखा। क्या तुम उनकी दासी नहीं हो? क्या तुम उनकी दी हुई रोटी नहीं खाती? क्या यह तुम्हारा धर्म नहीं है?

चुन्नी की यह बात सुनकर मुझे इतनी लज्जा आई कि यदि पृथ्वी फट जाती, तो मैं उसमें समा जाती। हमसे पैदा हुई बच्चों की यह समझ कि वह मुझे शिक्षा दे और मैं कान बहरा किए सुना करूँ?

मैं—मैं दासी अवश्य हूँ परंतु एक निमकहराम दासी हूँ, जो

अपने मालिक का काम ही नहीं करती, वरन् उनकी दया का भी ध्यान नहीं करती, गुणों का गान करना तो दूर रहा।

चुन्नो—बाबूजी ने भी तो बीमारी से उठने के बाद से ही पूजन करना शुरू किया है। क्या इसके पहले वह उनका दिया हुआ अन्न नहीं खाते थे? क्या वह उनके नौकर नहीं थे? क्या यह उनके धर्म के विरुद्ध था?

(यह सुनते ही शिवदत्त की आँखों से अश्रु-धारा प्रवाहित हो चली।)

मैं—वह भी बुरा करते थे।

चुन्नो—तब तो हमारे मालिक अवश्य क्रोधित हुए होंगे।

मैं—क्रोधित होने की तो बात ही है।

चुन्नो—कहीं ऐसा न हो कि हमारी रोटी बंद कर दें। फिर तो हम सब खाने के विना पटपटाकर मर जायँगे।

यह कहकर चुन्नो रोने लगी। मैंने उठाकर गले से लगाया। उसको ढाढ़स देती थी, और वह दूनो रोती थी। मुझसे भी न रहा गया। मैं भी आँसू बहाने लगी। मुझको रोती देख वह और अधीर होकर रोने लगी। आखिर बड़ी देर के बाद चुप हुई। मैंने कहा—"चुन्नो, तू डर मत। ईश्वर का ऐसा स्वभाव नहीं कि जो दास अथवा दासी उनका काम न करे, उसपर रुष्ट होकर उसका खाना बंद कर दे।"

चुन्नो—अच्छा अम्मा, यदि तुम्हारा कहना सच है, तो बच्चे को दूध पिलाकर देखो। दूध है या नहीं ?

मैं—बेटी, बच्चे को सोने दे नही तो उठकर तंग करेगा। दूध के लिये चिंता मत कर, ईश्वर ने काफी प्रबंध कर दिया है।

चुन्नो—हमारे यहाँ तो यदि कोई दास-दासी काम नहीं करती, तो बाबूजी बिगड़ते हैं और तुम भी खफा होती हो। बाबूजी जुर्माना करते हैं, खाना नही देते, यहाँ तक कि कभी-कभी निकाल भी देते हैं; लेकिन देखो अम्मा, ईश्वर तो ऐसा नहीं करते। इसलिये ऐसे मालिक का काम तो और दिल लगाकर करना चाहिए। अम्मा, मैंने तो पूजा कभी नहीं की, और न मुझे इसका नियम ही मालूम है। इस पर जहाँ तुम लोग दो बार खाती हो, वहाँ मैं चार-पाँच बार खाती हूँ। तब तो ईश्वर और भी मुझसे बिगड़ेंगे।

यह कहकर चुन्नो फिर बिलबिलाने लगी और डरकर मुझ से लिपट गई। इसपर मैंने उसे बहुत समझाया कि तू अभी बच्ची है, अबोध है, तुझसे ईश्वर नहीं बिगड़ेंगे। तू मत डर।

चुन्नी—मगर भोजन तो मुझे उतना ही बल्कि उसमें भी अधिक और बढ़िया मिलता है।

मैं—देख यही तो ईश्वर की दया है कि इतने पर भी तुझे काम से वंचित रक्खा है।

चुन्नी—तो फिर वह मुझे भोजन किसलिये देते हैं ?

मैं—इस वास्ते कि जब तू बड़ी हो जाय, तो इसके बदले काम करे।

चुन्नी—किंतु क्या मैं अभी काम नहीं कर सकती ? देखो, मैं तुमको पान लगाकर देती हूँ। बाबूजी को पानी पिला देती हूँ। सुई मे तागा पिरोती हूँ। पखा झलती हूँ। जो चीज मुझे दरकार होती है, ले आती हूँ। तुम कोई काम कहती हो, उसे भी कर देती हूँ। बच्चे को खेलाती हूँ। क्यों अम्मा, करती हूँ न ?

मैं—क्यो नही करती। जो काम कहती हूँ। तुरंत कर देती हो।

चुन्नी—तो क्या मैं अपने ईश्वर का कोई छोटा-सा काम भी नहीं कर सकती ? पूजा कौन-सी कठिन बात है ? मैं तो प्रतिदिन देखती हूँ कि बाबूजी नहा-धोकर आसनी बिछाते है और उसी पर बैठकर माला फिराया करते हैं। क्या मैं इतना नही कर सकती ? आखिर मैं हूँ तो उन्ही की बेटी।

मैं—इसके सिवा कुछ पढ़ना भी होता है, जिसे तू कहती है कि बाबू क्या बुदबुदाया करते है।

चुन्नी—वह क्या है ?

मैं—ईश्वर की स्तुति, उसकी प्रशंसा, उसका गुणानुवाद,

धन्यवाद, अपने पापों को उसके आगे स्वीकार करना, और अपनी शुद्धि के लिये उससे प्रार्थना करना, उसकी दया चाहना इत्यादि, यही पूजा है।

चुन्नी—ये सब बातें तो उसी प्रकार करते होंगे जैसे हम तुम बातें कर रही हैं?

मैं—और क्या।

चुन्नी—मगर बाबूजी तो न-जाने क्या बोलते हैं? कुछ मेरी समझ में नहीं आता। क्या तुम समझ लेती हो अम्मा?

मैं—वह संस्कृत-भाषा में स्तुति करते हैं। मैं भी उस भाषा को नहीं जानती। यही तो कारण है कि अपनी धर्म-पुस्तकों को नहीं पढ़ सकती और अपने अज्ञान के परदे को नहीं हटा सकती।

चुन्नी—अम्मा, तुम तो पढ़ती हो। क्या वह संस्कृत नहीं है? और यदि नहीं है, तो तुम संस्कृत क्यों नहीं पढ़ सकतीं?

मैं—आजकल लोग संस्कृत को आडंबर समझने लगे हैं। यह बुरी चीज़ हो गई है। अब तो लोगों का कहना है कि भाई, गाली भी दें, तो अँगरेज़ी में। अँगरेज़ों ने केवल केवल उस भाषा को ही नहीं भुला दिया, वरन् अपनी बुद्धि भी नष्ट कर दी। जहाँ थोड़ी भी शिक्षा की बू आई कि नाक

को माता और पिता को पिता कहते लज्जा आने लगती है। शायद यह शब्द भी भूल जाते हो, तो कोई आश्चर्य नही।

चुन्नी—तो फिर क्या कहते हैं ?

मैं—बाप को फादर और मा को मदर।

चुन्नी—जब तुम अँगरेज़ी को बुरा मानती हो, तो सस्कृत क्यों नहीं पढ़ी हो ?

मैं—मैं भला क्या करती। मेरे बाबूजी भाषा और सस्कृत की ओर ज़ोर देते थे और मेरे भाई लोग अँगरेज़ी के लिये। बाबू इस बात से बहुत बिगड़ते थे। उनका कहना ठीक था कि अपनी संतान मे पहले अपनी मातृ-भाषा मे हर प्रकार की शिक्षा देनी चाहिए; क्योकि यह उसके दिन-रात की भाषा है, सरल मालूम पड़ेगी। इसके पश्चात् यदि अवकाश मिले, तो यावनी भाषा पढ़ावे। उनका कहना केवल हिंदुओं ही के लिये नहीं बल्कि सब जातियो के लिये हितकर है। उनका जोर पहले अपने धर्म-शास्त्र पर था। यह बड़ी लंबी बात है। फिर किसो समय कह दूँगी।

चुन्नी—तब तो तुमको उचित है कि मुझे धर्म शास्त्र पढ़ा दो, तुम तो ठोकर खाकर सचेत हो चुकी हो। मैं प्रतिज्ञा करती हूँ नहीं तो मेरी भी दशा तुम्हारी तरह होगी। मगर अम्मा, यह तो बताओ कि क्या ईश्वर संस्कृत ही जानते हैं ?

मैं—नहीं, वह सब भाषाएँ जानते हैं। सब की बोली समझते हैं। जो गूँगा है, उसकी भाषा भी वह समझ लेते हैं। वह तो भाव ही से भावार्थ समझ जाते हैं।

चुन्नो—यह कैसे ?

मैं—वह सर्वव्यापी हैं। उनका प्रवेश सब जगह है। कोई चीज, और कोई बात उनसे छिपी नहीं है। वह सब कुछ देखते हैं, सबको सुनते हैं। भूत-भविष्य, सब कुछ जानते हैं।

चुन्नो—(घबराकर) क्या ईश्वर हमारे घर में बैठे हैं ?

मैं—घर में क्या हमारे पास बैठे हैं, मगर हम उनको देख नहीं सकती।

यह सुनकर चुन्नी जल्दी से दुपट्टा ओढ़ सँभलकर अदब के साथ हो बैठी, और मुझसे भी धीरे से कहा—"अम्मा, सिर ढक लो।" इसके बाद उसपर कुछ ऐसा प्रभाव पड़ा कि मेरी गोद में थोड़ी देर तक चुप पड़ी रही अंत में आँख लगी और सो गई। मेरी टाँगें जब सुन्न होने लगी, तो मैंने चारपाई पर धीरे से लेटाकर गुल्बी को पास बिठा दिया कि देख, हाथ रक्खे रहियो, ऐसा न हो लड़की सोते सोते डरकर चौंक पड़े। इसके बाद मैं चली आई। चुन्नी की बातों का मुझ पर ऐसा प्रभाव पड़ा कि कलेजा काँपनेलगा

शिव०—क्यों डर की इसमें कौन-सी बात थी ?

इंदु०— मैं कहता था कि ऐसी छोटी सी लड़की और ऐसी बातें !!! कुछ इसे हो तो नहीं गया ?

शिव०—धर्म में यही तो खूबी है कि इसे सर्व-साधारण भी भले प्रकार से समझ सकते हैं। यह बातें कोई आदमियों की गढ़ी हुई पहेलियाँ और गोरखधंधे तो हैं नहीं कि मनुष्य की समझ में जल्दी न आ सकें। यह तो सब उसी जगत्पिता परमात्मा की रचना है। वह भी कैसी ? ऐसी शुद्ध और सरल कि इसके समझने में जरा भी कठिनाई नहीं; परंतु मनुष्य की बुद्धि पर पत्थर पड़ गए हैं कि वह जरा सी मोटी बात भी उसकी समझ में नहीं आती कि पृथ्वी, आकाश, वायु, जल, चंद्र, सूर्य, तारे, जीव, जंतु, अनेक प्रकार के रंग, बिरंगे पेड़-फूल पत्तो, इन सब को किसने बनाया। यदि ध्यान से देखें तो साधारण-से-साधारण वस्तु में हजारों कारीगरियाँ दृष्टिगोचर होंगी। आखिर सब स्वयं ही तो नहीं बन गए। इनका बनानेवाला अवश्य कोई ऐसा ही गुणी कारीगर होगा। मगर सबसे बढ़कर तो उसने हमें बुद्धि दी है, जिसके द्वारा हम सब कुछ समझ सकें। परंतु बात तो यह है कि हम ऐसी तत्वों को बुद्धि में जगह ही नहीं देते, यद्यपि सारी सृष्टि हमें उस कारीगर को पहिचनवा

रही है और बता रही है कि देखो हमारा बनानेवाला वही ईश्वर है। चुन्नो ने कोई भी आश्चर्य की वात नहीं कही। आश्चर्य की बात तो यह है कि हम में बच्चों के बराबर भी बुद्धि नहीं। हमे तो चुल्लू-भर पानी में डूब मरना चाहिए। बड़े खेद की बात है कि तुम उसे हमारे पास क्यों नहीं लाई। उसने वह-वह बातें कही हैं जो चित्त पर लिख लेने योग्य हैं। और ये बातें उसने क्या कही, स्वय ईश्वर ने उसके मुँह से कहलाई हैं। बेटी नहीं सच पूछो, तो वह हमारे लिये देवी है, जिसने हमें सन्मार्ग पर लाने के लिये अवतार लिया है। बच्चे जो निर्दोष कहलाते हैं, वह इसी कारण कि उनका हृदय संसार की कल्मष की ओर से पवित्र और पापों से शुद्ध रहता है। ईश्वर धन्य है! एक से तो हमें कार्य आरभ करने के पहले ही विश्रांति हुई। अब मैंने औरो के लिये तो यही सोचा है कि लड़कियों को तुम देखो और लड़कों को मैं सँभालूँ। मैं पहले छोटे से शुरू करूँगा। आशा है कि वे जल्द मेरे कहने में आ जायँगे। अब जो कुछ खटका है, वह बड़ों का। उनके लिये हमें अवश्य कुछ कष्ट उठाना पड़ेगा। तो क्या कष्ट के डर से हम इस काम से हाथ उठा लें! यह तो हो हा नहीं सकता। हमने पहले ही प्रतिज्ञा कर ली है, और मैं खूब जानता हूँ कि नया ढंग देखकर उन

कान खड़े होंगे। हाँ यह नहीं मालूम कि किसके साथ क्या करना पड़े। तुम इतना करो कि एक तो हमारा-तुम्हारा काम एक ही साथ शुरू हो। जब भीतर-बाहर एक-ही बात की चर्चा होगी, तो कोई यह न कहेगा कि यह विशेष रूप से हमारे ही पीछे पड़े हैं; बल्कि अपने-पराए सब के साथ एक ही समान हैं। दूसरे यह कि इस बात पर पूरा ध्यान रहे कि हम दोनों का प्रयत्न एक ही साथ होना चाहिए, जरा भी अंतर न पड़े; नहीं तो सारा किया-कराया मिट्टी में मिल जायगा। काम करने के पहले हमें ईश्वर से प्रार्थना भी करनी चाहिए कि वह हमें हमारे काम में पूरी सहायता दे, और साथ-ही-साथ ईश्वर की दया और सहायता पर हमें पूरी तरह से विश्वास भी रखना चाहिए, जो सबसे मुख्य है। आशा है, तुम भी ऐसा ही करोगी। बस, शीघ्र ही श्रीगणेश करना चाहिए।

छठा परिच्छेद

मनुष्य अपने व्यवहार तथा सदाचार से मान्य होता है

दूसरे दिन तड़के ही, जब सरदी के मारे हाथ ठिठुरे जाते थे, शिवदत्तजी के तीसरे पुत्र यमुनाप्रसाद पांडेय उठे। सब कार्यों से निवृत्त होकर जैसे ही पानी की धार में सिर नीचा किया कि गुल्बी ने पुकारकर कहा—"छोट के बबुआ, सरकार बुलाते हैं।" यह सुनते ही वह सहम गया। सोचा कि बस, आज कोई बला आई। न-जाने किसका मुँह देखकर उठे कि सवेरे-सवेरे पिताजी के कोप में आ फँसे। डरते-डरते किसी तरह नहा-कर अपनी माता के पास गया और पूछा—"क्यों अम्मा, तुम्हें मालूम है, बाबूजी हमें क्यों बुला रहे हैं? बिगड़े तो नहीं हैं?"

माता—मुझे तो कुछ नहीं मालूम। अभी तो वह पाठ करते थे। जाओ, आप ही मालूम हो जायगा। मैं जहाँ तक समझती हूँ किसी जरूरी काम के लिये बुलाया होगा।

यमुना०—नहीं, मुझे अकेले जाते डर मालूम होता है, तुम भी साथ चलो।

माता—इसमें डर की कौन-सी बात है। मेरी गोद में मुनुआ

है, नहीं तो मैं भी चलती। जाओ, डरो मत; मगर जो कुछ शिक्षा मैंने तुम्हें दी है, उसी प्रकार जाकर बातें करना।

खैर, बेचारा डरते-डरते गया और सामने आकर बड़ी नम्रता-पूर्वक पैर छूकर प्रणाम किया और कहा—"बाबूजी, मैं हाज़िर हूँ। आपने मुझे किसलिये याद किया है?"

यह भाव देखकर शिवदत्तजी का हृदय गद्गद हो गया और पास बिठाकर पुत्र का प्यार किया। यमुना की अवस्था लगभग १२ वर्ष की होगी। शिवदत्तजी यह भाव देखकर ताड़ गए कि हो न हो, यह शिक्षा जरूर इसकी माता ने दी है। अतः बहुत प्रसन्न होकर उन्होंने पूछा—"क्यों बेटा, आज स्कूल है या नहीं?"

यमुना०—जी बाबूजी, आज जाना होगा।

शिव०—क्यों यमुना, तुम अपने भाई के साथ पढ़ने जाते हो, या अलग?

यमुना०—कभी-कभी उनके साथ जाता हूँ, नहीं तो अकेला ही चला जाता हूँ। वह सवेरे ही उठकर अपने साथियों के यहाँ चले जाते हैं। वहीं पढ़ते भी हैं, क्योंकि परीक्षा इसी अगले महीने में होनेवाली है। यदि वहाँ उन्हें देर हो जाती है, तो घर भी नहीं आते। उधर ही से स्कूल चले जाते हैं। इसीलिये मुझे उनका साथ कम होता है।

शिव०—क्या अपने घर में जगह नहीं है जो वह दूसरों के घर पढ़ने जाते हैं ?

यमुना०—जगह तो है, मगर वह कहते हैं कि बड़े भाई के पास हर वक्त गंजीफा, शतरंज, और ताश ही हुआ करते हैं। इसलिये एकाग्र-चित्त होकर पढ़ते नहीं बनता।

शिव०—तुम भी ये सब खेल जानते हो ?

यमुना०—जी, चालें तो जानता हूँ किंतु यह खेल मुझे जन्म-भर न आएँगे; क्योंकि मेरा उनमें जी नहीं लगता, और न मैं उन्हें पसंद ही करता हूँ। केवल यही नहीं, बल्कि तमाम खेलों से मुझे घृणा-सी हो रही है।

शिव०—तुम्हारी इस बात से मुझे बड़ा आश्चर्य होता है। इसका मुख्य कारण मैं तुमसे सुनना चाहता हूँ। अभी हाल ही में, जब मैं बाहर बैठता था, तो तुम्हें हमेशा खेल ही में लीन पाता था। अब ऐसी अरुचि क्योंकर हो गई, और वह भी इतनी जल्दी ? जल्दी बताओ।

यमुना०—आपने अक्सर चार लड़कों को पुस्तकें बग़ल में दाबे अंदर गली में आते-जाते देखा होगा।

शिव०—वही जो गोरे-गोरे चार लड़के एकसाथ रहते हैं ? फटी जूतियाँ पहने, मुड़े सिर, मामूली कुर्ते पहने। क्यों, वही न ?

यमुना०—जी।

शिव०—फिर ?

यमुना०—आपने भला कभी उन्हे गालियाँ देते अथवा दंगा-फ़साद करते देखा है ?

शिव०—कभी नहीं।

यमुना०—उनका कुछ निराला ही ढग है। जब रास्ते में चलते हैं, तो सिर नीचा किए ही चलते हैं। अपने से बड़ा मिल जाय, चाहे वह जान-पहचान का हो या नहीं, उसे प्रणाम अवश्य करेंगे। महल्ले मे कोड़ियों लड़के हैं, मगर जान-पहचान किसी से नहीं। न तो उन्हे किसी से कुछ वास्ता है, न प्रयोजन। चारो आपस के भाई है। न कभी लड़ते हैं, न झगड़ते। न कभी गाली बकत हैं, न झूठ बोलते हैं, और न कभी किसी को छेड़ते ही हैं। वे हमारे ही स्कूल मे पढ़ते हैं। वहाँ भी उनका यही हाल है। कभी किसी ने उनको बुराई नहीं की। डेढ़ बजे एक घटे की छुट्टी होती है। सब लड़के खेल-कूद में लग जाते हैं, ये चारो बेचारे बग़ल ही के मंदिर में चले जाते हैं, और एक बाबाजी से, जो वही पर रहते हैं, कुछ धर्म-संबंधी पुस्तकें सुना करते हैं।

इनमें सँझला लड़का मेरे ही क्लास मे पढ़ता है। एक दिन मुझे पाठ याद नही था। मुझपर पंडितजी ने बिगड़कर कहा—"अरे दुष्ट, तू इससे क्यों नही पढ़ लिया करता ?

इसका घर तो तेरे घर से सटा ही हुआ है।" मैंने उससे पूछा—"क्यों भाई, मुझे पाठ बता दिया करोगे ?" उसने कहा—"बड़ी खुशी से।" उस दिन से मैं बराबर उसके घर जाता हूँ। जब मैं पहली बार गया, तो देखा कि घर में सिवाय एक बुढ़िया माई के और वहाँ कोई नहीं है। वह उन लड़कों की नानी हैं; मगर सब उन्हें बुढ़िया माई कहते हैं। महल्ले-वाले भी यही कहते हैं। देखने में तो वह अस्सी वर्ष से कम की नहीं मालूम पड़तीं ; मगर हमेशा रामायण पढ़ा करती हैं। मैं सीधा सामने दालान मे चला गया, और अपने साथी के साथ उसी जगह बैठ गया। जब बुढ़िया माई ने मुझे देखा, तो उन्होंने मुझ से कहा—"बेटा, यद्यपि तुमने मुझको प्रणाम नहीं किया, तथापि मेरा धर्म है कि मैं तुम्हें आशीर्वाद दूँ। जीते रहो, फूलो-फलो। ईश्वर तुम्हें शुद्ध-बुद्धि दें।"

उनका यह कहना था कि मैं लज्जा के मारे धरती में गड़ गया। उसी दम उठकर बड़े विनीत-भाव से मैंने उन्हें प्रणाम किया। तब फिर उन्होंने कहा—"बेटा, बुरा न मानना। यह भलेमानुसों का दस्तूर है कि अपने से जो बड़ा होता है, उन्हें प्रणाम कर लिया करते हैं। मैं तुम्हें न टोकती। लेकिन चूँकि तुम मेरे बच्चों के साथ उठते-बैठते हो, इसीलिये

मुझे तुमको जता देना परम आवश्यक था।" इसके बाद बुढ़िया माई ने मुझे मिठाई दी और बहुत अनुग्रह और प्रीति के साथ मुझे खिलाई। जब मैं उनके वहाँ जाता हूँ, वह मुझे अपने नातियों ही के समान प्यार करती हैं। और सर्वदा एक-न-एक नई शिक्षा दिया करती हैं। तभी से मेरा दिल सब खेलों से हट गया है।

शिव०—बेटा, तुमने बड़ी खुशी की बात सुनाई। कहो, और क्या-क्या हुआ? बुढ़िया माई ने तुमसे क्या-क्या कहा?

यमुना०—जिस दिन से उन्होंने मुझे प्रणाम करने के लिये कहा, उस दिन के बाद से मुझे कभी नहीं टोका। मैं कभी शरारत भी करता हूँ, तो भी नहीं बोलती, मानो वह जानती ही नहीं। मगर एक दिन वह मुझपर इतना बिगड़ीं कि तब से मैं एकदम सीधा हो गया। एक बार मुझसे एक कुँजड़े के लड़के से कुछ कहा-सुनी हो गई। बात इतनी बढ़ी कि गाली-गलौज के बाद उठा-पटक की नौबत आई। मैंने अड़ंगी चढ़ाकर उसे जो पटकना दिया तो बेचारा चारों कोने चित पड़ गया। फिर क्या था, मारे घूसों के भुर्कुस निकाल दिया। यदि कुछ लोग आकर न छुड़ा देते, तो उसे अधमरा ही करके छोड़ता। ये बातें सब कुछ उन्हीं के दरवाज़े

पर हो रही थीं कि इतने में बुढ़िया माई आ गई और मुझे अंदर बुलाकर सब हाल पूछा। गुस्सा तो मुझे चढ़ा ही था, न-जाने क्या-क्या कह गया। मेरी बातें सुनकर सब के सिर जमीन में गड़ गए। इसके बाद बुढ़िया माई ने कहा—"यमुना, बड़े दुःख की बात है कि ऐसा प्यारा लड़का होकर ऐसे दुर्गुण रखता है। ऐसे मुँह से यह बातें? छिः-छिः! आज कई दिन से मैं तुझे समझानेवाली थी; मगर इस वक्त की बातें सुनकर मुझे विश्वास हो गया कि तुझे शिक्षा देना ऊसर खेत मे बीज बोना है। खटका यह है कि तू मेरे लड़को के साथ रहता है, कहीं ऐसा न हो कि तू उन्हें भी अपना ही-सा बना ले। मेरे सामने उन्हें जीते-ही-जी मार डाले। मिलना-जुलना तो बड़ी बात है, अब मुझे यह मुहल्ला भी छोड़ना पड़ा। कैसा बेहया लड़का है। एक तो लड़ना, दूसरे रास्ते में, और उस पर ऐसी भद्दी-भद्दी गालियाँ?"

मैं—मैं ईश्वर की सौगंध खाकर कहता हूँ कि मैंने कभी पहले छेड़जानी नहीं की।

बु० मा०—बस, अपनी सौगंध को बंद कर भैया। मैं सौगंध खाने और गाली देने को एक ही समान समझती हूँ। जो ईश्वर का नाम इस तरह निडर होकर लेता है, उसे झूठ

कहते कौन डर ? सौगंध खा

है। झूठ पाप का मूल है।

पाप है।

मैं—गाली भी पहले उसी ने

बु॰मा॰—तुमने क्यों गाली

मैं—पहले तो मैं कहना चाहता हूँ कि म...

नहीं है।

बु॰ मा॰—क्या ऐसे बाज़ारू लड़कों का संग करना, यह तुम्हारा दोष नहीं है ?

मैं—आपको मालूम नहीं, वह चलतों के सिर पड़ता है।

बु॰मा॰—तो अब नहीं, तो अब बना। झूठ बोलो और सिर पर। मेरे लड़को के सिर तो कोई नहीं चढ़ता।

मैं—इनसे तो किसी से जान-पहचान ही नहीं।

बु॰मा॰—और तुमसे ?

मैं—यह क्योंकर कहूँ कि मुझसे भी नहीं है ?

बु॰मा॰—है, तो वही तुम्हारा दोष है। और उसी की सजा है कि तुम बाजारों मे गालियाँ सुनो।

मैं—लेकिन मैंने भी खूब बदला लिया।

बु॰मा॰—बस, यही तो तुम्हारे खराबी के लक्षण हैं कि तुम उन्हें बदला समझते हो। अगर कोई तुम्हारे साथ बुराई

पर हो रही थीं ?

अंदर बुलाकर । उसे बुरा कहेंगे। और जब तुम उसके साथ न-जाने ... ई करोगे, तो क्या तुम ज्यादा बुरे नहीं कहे जाओगे? जमी । देनी बड़ी बुरी बात है। उसने दी, तो झख मारा, और तुमने उससे ज्यादा दी, तो ज्यादा झख मारा। यमुना, तुम अपने मे और उस लड़के में कुछ अतर देखते हो ?

यह सुनकर मुझे बड़ी लज्जा आई और फिर सिर नीचा करके कहा—"हाँ, उस समय तो मुझमें और उसमें कोई भी अंतर नहीं था।"

बु०मा०—लेकिन वह एक बाजारू आदमी का बेटा है और तुम एक भले आदमी के बेटे हो। तुम्हारे बाबा का यहाँ पर वह नाम है कि सब लोग उनके पीछे भी उनके नाम की बड़ाई करते हैं। उन्हीं के पौत्र तुम हो। झूठ बोलने में दिलेर कसम खाने में निडर, गालियाँ देने में बेधड़क। कोई इसी कारण से दुनिया में नाम नहीं पाता कि उसके बाप-दादे बड़े सपन्न और प्रतिष्ठित थे। मनुष्य मान्य अपने व्यवहार और सदाचार से होता है। क्या तुम कह सकते हो कि यह तुम्हारी चाल प्रशंसा के योग्य है ?

यह सुनकर मुझे इतनी लज्जा आई कि मैं रोने लगा। बुढ़िया माई की आँखें भी डबडबा गईं। उन्होंने मुझे पास

बैठाकर प्यार किया, और कहा—"बेटा, मैं तुम्हारे ही हित के लिये कह रही हूँ. अब भी कुछ नहीं बिगड़ा है ; किंतु थोड़े ही दिन बाद तुम्हें इन आदतों को छोड़ना कठिन हो जायगा।"

उसी समय मैंने उनके पैर छूकर दृढ़ प्रतिज्ञा की और कहा—"माई, यदि फिर कभी मुझे इन बातों में पाना, तो अपने घर के चौखट के भीतर पैर न रखने देना।"

शिव०—तो क्या उसी दिन से तुम्हारा मन खेल से हट गया ?

यमुना०—जी नहीं। उस दिन से बुढ़िया माई मुझे प्रतिदिन दो-चार हित की बताया करती थीं। एक दिन उन्होंने मुझसे मेरे दिन का हिसाब पूछा। मैंने सोना, खाना, खेलना, लिखना, पढ़ना इत्यादि काम बताए। मगर उन्होंने कुछ न कहा, चुप-चाप सुनती हो गईं। अंत में श्वास खींचकर कहा—"यमुना, आठ पहर में ईश्वर का एक काम भी नहीं ? उसने तुमको आदमी बनाया, क्या यह संभव नहीं था कि वह तुम्हें कुत्ता या बिल्ली बना देता ? फिर जन्म भी दिया, तो एक भले आदमी के घर, जहाँ तुम्हे किसी बात की कमी नहीं। हो सकता था कि वह तुम्हें किसी दरिद्र के यहाँ पैदा करता। उस समय तुमको मालूम होता। इसी छोटी अवस्था मे मिहनत करनी

पड़ती, और उस पर भी चना-चबेनी के अतिरिक्त कुछ मिलता। एक लँगोटी बाँधे फिरते। न पैर मे जूते, न सिर टोपी और न गले मे अँगरखा। जहाँ जाते दुर-दुर होते लेकिन नहीं, देखो तुम्हें कैसा कोमल, सुंदर और सुडौल बना- है कि जो देखे, प्यार करे। क्या तुमको काला भूत और लँ- बना देना उसके लिये कठिन था ? जिस ईश्वर ने तुम्हारे ऊ इतनी दया की, बड़े शरम की बात है कि तुम २४ घंटे में ए वार भी उसके आगे सिर न झुकाओ। डूब मरने की बात यदि एक वार भी उसका नाम न लो।"

इसके बाद बुढ़िया ने मुझे सन्ध्या-पूजा की विधि बताई उसका अर्थ समझाकर मुझे बहुत-सी शिक्षाएँ दीं; म बड़ा दुःख है कि कई महीने से मेरा उनके घर जाना छूट गया

इतना कहते-कहते यमुना की आँखें भर आईं।

शिव०—क्यों क्या वात हुई ? क्या तुमने उनके नाति से लड़ाई तो नहीं की ?

यमुना०—जी नहीं, वह तो मुझे भाई के समान मानते यदि मैं कुछ उन्हें कठोर वचन कहता, तो भी वह मुझसे रु न होते। न बुढ़िया माई ही ऐसी हैं। वह तो मुझे जी-जा से प्यार करती हैं।

शिव०—तो क्या स्वयं जाना छोड़ दिया ?

यमुना०—मैं तो प्रति दिन जाने के लिये तड़पा करता हूँ।

शिव०—तो क्या तुमको यहाँ किसी ने मना किया है ?

यमुना०—जी नहीं।

शिव०—फिर क्या बात हुई ?

यमुना०—यदि आप मुझे इसके कहने से क्षमा करें, तो अच्छा होता।

शिव०—नहीं मेरी उत्कंठा को दूर करो।

यमुना०—इसमें एक आदमी की शिकायत होगी। बुढ़िया माई ने मुझे पीठ-पीछे बुराई और चुगली खाने के लिये मना किया है।

शिव०—लेकिन क्या वहाँ न जाने से तुम्हारी कुछ हानि नहीं है ?

यमुना०—ऐसी-वैसी हानि ?

शिव०—तो मैं तुम्हें आज्ञा देता हूँ। सब बातें साफ-साफ कहो।

यमुना०—बाबूजी, बुढ़िया माई ने एक दिन मुझसे कहा था कि तुम अपने सिर के बाल मुँडवा डालो। यद्यपि मुझे बाल बहुत ही प्रिय थे, तथापि दिल नहीं मानता था कि मैं उनकी आज्ञा का उल्लंघन करूँ। दूसरे मुझे विश्वास था कि वह जो कुछ कहेगी, वह मेरे हित की बात होगी। उन्होंने इसका और कुछ

तो कारण नहीं बताया, मगर इतना कहा कि देखो, बालों
रखने में तुम्हारा अमूल्य समय बहुत नष्ट होता है। सम
ऐसी वस्तु नहीं कि उसे व्यर्थ नष्ट किया करो। ब्राह्मणों
लिये विशेषकर इस तरह बाल बढ़ाना मना है। और उम
तुम्हारी छात्रावस्था है। अभी से शौक का फल अच्छा न
होगा।

अगले दिन जो नापित आया, तो मैंने उससे कहा कि
नाई ठाकुर, मेरे बाल भी मूँड देना। भाई खत बनवा रहे थे।
बालों का मूँडना सुनकर लाल हो गए। मुझे जो चाहते, क
लेते; पर उन्होंने बुढ़िया माई और उनके नातियों को कटु वच
कहे। न-जाने उन्हें क्या हो गया था? कोई भी बात बचा न
रक्खी। गुस्से में मुझे भी मारने दौड़े।

शिव०—तुमने कुछ उत्तर नहीं दिया?

यमुना०—जी उत्तर कैसे देता? एक तो बड़े भाई, दूसरे यदि
मैं कुछ भी कहता, तो वह कदापि मुझे जीता न छोड़ते। मेरा
वहाँ से हटना ही अच्छा था, इसीलिये मैं वहाँ से हट गया।
इसके बाद भी मैंने वहाँ का आना-जाना नहीं छोड़ा था। बुढ़िया
माई ने यह समझकर कि कहने-सुनने से कुछ लाभ नहीं,
फिर मुझे बालों के लिये नहीं टोका। उन्होंने सन्ध्या भी सिखा
लाई और ताकीद की थी कि बिना संध्या किए कोई काम न

करना। मैंने घर में संध्या करने का विचार किया, और जैसे ही किया कि भाई और उनके मित्र मुझे हँसाने की चेष्टा करने लगे। जब मैं ज़रा भी टस-से-मस न हुआ, तो आसनी-सहित मुझे उलट दिया। मैं अब संध्या भी नहीं कर पाता। इसीलिये अब उनके घर नहीं जाता कि यदि वह मुझसे पूछेंगी, तो मैं क्योंकर झूठ बोलूँगा? और नहीं तो क्या कहूँगा? इसी विपत्ति में पड़ा हूँ। मुझे वहाँ गए लगभग तीन मास से अधिक हुए।

शिव०—किंतु तुमने यह बात मुझसे पहले क्यों नहीं कही?

यमुना०—इसी भय से कि पीठ-पीछे बुराई न करनी चाहिए। दूसरे यह भी डर था कि यदि मैं आपसे कहता और भाई सुन पाते, तो मेरी ख़ूब कचूमर निकालते।

शिव०—क्या तुमने अपनी मा से भी ये बातें नहीं कहीं?

यमुना०—यही कारण तो वहाँ भी था। दूसरे घर में संध्या-पूजा की चर्चा न देखकर यही संशय होता था कि कहीं बड़े भाई की तरह और कोई न बिगड़े। ये दिन मेरे कैसे बीते, मैं आपसे बयान नहीं कर सकता। जो मैं सुनता था कि कुत्ता होना अच्छा, मगर छोटा भाई होना नहीं अच्छा; उसे मैंने सचमुच ठीक पाया। भला, पानी में रहकर मगर से वैर कैसे कर सकता था? मैं दिन-रात इसी सोच में घुला करता कि जिस

घर में मैं रहता हूँ वहाँ का चाल-चलन जब [illegible] पसंद है, तो फिर यहाँ से अलग होकर मेरा कहाँ ठिकाना [illegible]गा, और मेरा भविष्य कैसा होगा ?

शिव०—लेकिन यदि अब तुम्हें बुढ़िया माई [illegible] वहाँ जा का मौक़ा मिले, तब ?

यमुना०—तो फिर इससे बढ़कर खुशी की बात कौन होगी ? परन्तु जब तक मैं अपने सिर के बाल न मुँडवा और सन्ध्या का नियम मेरा ठीक न हो जाय, तब तक उन्हें अपना मुँह नहीं दिखा सकता।

शिव०—और यदि यह भी हो ?

यमुना०—तो फिर यह भी होना चाहिए कि हमारे घर व आदतें भी वहीं की-सी हो जायँ।

शिव०—भला यदि दोनों हों ?

यमुना०—तो फिर मुझे और कुछ नहीं चाहिए।

शिव०—निस्सन्देह हमारे घर में बरबादी छा रही है औ सारा घर धर्म और नेकी से विपरीत जा रहा है। आवें का आवाँ खराब है। मुझे तो बड़ा आश्चर्य मालूम होता है कि इतना होने पर भी ईश्वर का कोई भी कोप हम पर नहीं हुआ। मैं भी आज यही सोच रहा था कि घर-भर की बर बादी का मैं ही कारण हूँ। मैंने घर का सरदार होकर मुझे

लोगों को अपने धर्म से वंचित रक्खा है। न-जाने ईश्वर इस अपराध के लिये मुझे कौन-सा दंड देगा। यमुना, मैं आज तुम्हारी बातो से अत्यंत हर्षित हुआ। तुम धन्य हो, और मैं भी तुम्हें पाकर भाग्यवान् हुआ। तुम्हारी माता इन बातों को सुनकर बहुत गद्गद होगी। बेटा, तुम्हीं इस घर के सुधार की नींव डालोगे। मै बहुत कोशिश करूँगा और तुम भी ऐसे ही यत्न करो कि तुम्हारा जीवन एक आदर्श हो, जो कि भविष्य के लिये एक उदाहरण रहे। जाओ, तुम खुशी से अपनी मनोकामना पूरी करो। आज से बुढ़िया माई मेरी धर्म की माता हुईं और उनके नाती मेरे धर्म के पुत्र हुए। मैं स्वयं उनके पास चलूँगा और उनसे शिक्षा ग्रहण करके अपने जीवन को सुधारूँगा। मैं ईश्वर से यही प्रार्थना करता हूँ कि ईश्वर तुम्हारे इस संकल्प मे सहायक हो।

सातवाँ परिच्छेद

जोलाहे का काम भला पर जोलाहे की गुलामी अच्छी नहीं

इधर तो बाप-बेटे में ये बातें हो रही थीं, उधर घर में इंदुमती और उसकी बड़ी बेटी सुर्जीदेई (सूर्यमुखी देवी) में झपटा-झपटी हो रही थी। सुर्जी के ब्याह को केवल दो ही वर्ष बीते थे। पाँच महीने का लड़का गोद में था, माता-पिता के लाड़-प्यार का वह प्रभाव पड़ा कि कुछ कहना ही नहीं। वही कहावत हुई कि "कड़वा करेला और नीम चढ़ा।" सास-ननदों में भला इस स्वभाव की स्त्री का क्योंकर प्रवेश होने लगा? घूँघट के साथ मुँह खुला और मुँह का खुलना था कि ससुराल का आना-जाना बंद हो गया, छः छः महीने से मा के घर बैठी है। रस्सी जल गई, पर ऐंठन न गई। कुँआरेपन मे सौ गज की जबान थी, अब हजार की होगई। जो कुछ बूढ़ों और बड़ों का सत्कार था, वह भी ब्याह के बाद जाता रहा। ब्याह के बाद तो और भी गुल खिला।

पतिदेव के कहने से लड़कियों के सुधार का बीड़ा तो इंदुमती ने उठा लिया था, परंतु सुर्जी के नाम से उसके रोंगटे

खड़े होते थे। वह दिल-ही-दिल में सोचती थी कि ज़रा भी उन भिड़ों के छत्ते को छेड़ा कि मेरा सिर मूड़कर भी बस नहीं करेगी। सौ-सौ मनसूबे बाँधती थी, मगर श्रीमती सूर्यमुखी देवी को देखते ही प्राण सूख जाते थे। मा तो इसी चिंता में थी कि क्या करे और कैसे करे, मगर इतने में स्वयं सुर्जी ने ही क़दम बढ़ाया।

बड़े सवेरे बच्चा चुन्नी को देकर हाथ-मुँह धोने लगी। चुन्नी ने सोचा कि प्रातःकाल का समय है। माता की सिख-लाई हुई ईश्वर-वंदना करूँ, तो बच्चे को कौन-सी तकलीफ़ होगी? बैठकर लड़के को गोद में लिया और वंदना करने लगी। बच्चा किसके मान का था! जैसे ही वह बैठी कि लगा चिग्घाड़ मारने। अब क्या था, लाख हिलाया-कुदाया, मगर काहे को शांत हो। और ज़ोर से बलबलाने लगा। यह आवाज़ मा के कान तक पहुँची, तो वहीं से वह दौड़ी और आकर पीछे से वह थप्पड़ मरा कि बेचारी चुन्नी बच्चा-सहित चार गज़ दूरी पर जा गिरी। बच गया बच्चा, नहीं तो उसकी वैकुंठ की तैयारी हो चुकी थी। यह देखकर सुर्जी और भी आग-बगूला हो गई और लगी गालियाँ देने—"नाती, डेढ़ सेर खाना खाती है, मगर देखो तो देह में बल नहीं। बचा खिलाने को दिया, तो लगी अपने ... ...।"

बेचारी चुन्नी चुपचाप वहाँ से टल गई और एकांत मे बैठकर ईश्वर-स्मरण करने लगी। यह भी डर था कि कहीं हमारे मालिक न हमसे न बिगड़ जायँ। उसके दिल में यह ख्याल आया कि शायद आज ईश्वर के काम में देर हो गई इसी से सवेरे-सवेरे यह जल-पान मिला है।

इधर तो बेचारी हाथ जोड़े चुपचाप बैठी थी, उधर उसकी नाक से खून जारी था। सयोग-वश इंदुमती वहाँ पहुँच गई चुन्नी को इस अवस्था में देख गौर करने लगी कि कहीं नकसीर तो नहीं फूट गई ? अभी तो इसे अच्छी छोड़ गई थी।

चुन्नी ने कुछ भी उत्तर नहीं दिया था कि सुर्जी बोल उठी—"हुआ क्या ? अभी ज़रा इसको लड़का दिया कि इसेखेला, तब तक मैं मुँह धोकर आती हूँ। मैं उधर गई और इधर यह न-जाने क्या इसके कान पर चिल्लाने लगी। आखिर मैं कुएँ में तो नहीं डूब गई थी ? इस निकम्मी से इतना भी न हो सका कि बच्चे को चुप कराती। इतने में मैं आ गई और पीछे से जो कंधे पर हाथ रक्खा, तो यह धम से गिर पड़ी। कहीं कोई चौकी की कील-वील लग गई होगी। भला कौन सी स्तुती की घड़ी मारी जाती थी ? क्या इस निगोड़ी की स्तुती इस बच्चे से भी अधिक प्यारी थी ?

इदु०—शर्म नहीं आती झूठ बोलते ? भला तू धौले हाथ रखती, तो क्या यह काग़ज़ की पुतली थी जो ज़रा-सा धक्का लगते ही गिर जाती ? इस पर भी तू इतनी निडर है कि ईश्वर के विरुद्ध बातें करती है ? अरी लड़की, डर। मैं फिर तुमसे कहूँगी कि डर। इस दशा को पहुँच चुकी, तब भी तू इतनी निडर है ?

सुर्जी०—मेरी कौन-सी दशा तुमने बुरी देखी ?

इंदु०—इससे बढ़कर और क्या बुरी गत होगी कि तीन वर्ष ब्याह किए हुए, एक दिन भी अपने घर में रहने का सौभाग्य न प्राप्त हुआ ?

सुर्जी०—तुमने घर ही ऐसा ढूँढा, तो मेरा क्या दोष ?

इंदु०—हाँ बेटी, मैं तेरी शत्रु थी न, जो तुझे फूलते-फलते देखकर जलती ! इसीसे तो ऐसा घर खोजा। मेरी तो इच्छा ही है कि अपनी बेटियों को अपने बगल में उजड़ी हुई देखूँ।

सुर्जी०—क्या जाने। मुझको तो आँखें मींजकर कुएँ में ही ढकेल दिया। सो पड़ी हुई डुबकियाँ खा रही हूँ।

इंदु०—ख़ैर बेटी, ईश्वर की कृपा से तेरे आगे भी औलाद है। तू समझ-बूझकर ब्याह करना। हमने तो अपने बच्चों को डुबा ही दिया।

सुर्जी०—करूँगी नहीं, तो क्या तुम्हारे आसरे बैठी रहूँगी ?

इंदु०—कहती तो हूँ कि मेरे भरोसे से बढ़कर ईश्वर क
भरोसा है।

सुर्जी०—कैसा ईश्वर और किसका भरोसा ? सब अपने द
का भरोसा है।

इंदु०—देख, यह दूसरी बात है जो तू ईश्वर के विरुद्ध क
रही है। अब जो जरा भी कुछ कहा, तो याद रख, जबान ह
सट से खींच लूँगी।

सुर्जी०—बड़ी मारनेवाली बनी हैं! मारो अपने लाड़ले
लाड़ली को।

इंदु०—देख, तू बहुत बहक चली। समझ ले कि जब त
ईश्वर की नहीं, तो मेरी भी नहीं।

सुर्जी०—यह कब से ?

इंदु०—जब से ईश्वर का प्रकाश मिला, तब से।

सुर्जी०—चलो रहने दो। जब मैं भी तुम्हारी उमर को
पहुँचूँगी, तो ईश्वर का आदर कर लूँगी।

इंदु०—क्या ज्योतिष का भी श्रीमती को ज्ञान है ? क्या
यह आशा है कि आप भी इस अवस्था तक पहुँचेंगी ?

सुर्जी०—अब तुम मेरे मरने का शगुन देखो, शगुन।

इंदु०—यह सब कहने की बात है। जिसकी जितनी आयु
होती है, उतने ही दिन तक वह जीता है।

सुर्जी०—नहीं तो मुझे काहे को जीने देतीं।

इंदु०—यदि इतना ही वश चलता, तो तुम्हें आदमी न बना लेती।

सुर्जी०—नहीं तो मैं जानवर ठहरी?

इंदु०—जो ईश्वर को नहीं जानता, वह जानवर से भी गया-बीता है।

सुर्जी०—अब तो केवल चुन्नी तुम्हारे नजदीक आदमी है; और सब गदहे हैं।

इं०—चुन्नी का तुझको क्या जलाया है? उसकी जूती की तो बराबरी कर ले पहले!

सुर्जी०—क्या कहना है! यदि मैं भी चुन्नी के समान तुम्हारे हाथ में अपनी नकेल देकर तुम्हारे हाथों बिक जाती, तो आज मैं भी आदमी ही होती।

इंदुमती से अब नहीं रहा गया। उसने पहले ही कह दिया था कि फिर जो जबान लड़ाई, तो ठीक न होगा। सचमुच उसने वह तमाचा खींचकर लगाया कि सुर्जी का मुँह ही फिर गया। तमाचे का लगना था कि सुर्जी ने वह तमाशा दिखाया कि घर-का-घर चकाचौंध में आ गया। पहले तो उसने बेचारे बच्चे को 'दे धमाधम, दे धमाधम' इतना मारा कि अगर लोग बच्चे को न छीन लेते, तो बेचारे का खून ही हो जाता। इसके बाद लग

यह फैन मचाने। धड़ाधड़ कपार पटकने लगी, कपड़े टुकड़े-टुकड़े कर डाले। आश्चर्य तो यही होता है कि दीवार की ईंट टूट गई परन्तु इसे चोट तक नहीं आई। उसका पाखंड देख सब लोगों ने दाँत-तले उँगली दबा ली कि हे विधाता, देखते-देखते इसे कौन-सा भूत सवार हो गया। लोगों को यह डर समा गया कि गुल-गपाड़ा सुनकर कहीं पुलीस वाले भीतर न घुस आवें। खैर, किसी तरह लोगों ने उसे पकड़ा और कोठरी मे ढकेलकर कुंडी लगा दी।

नीचे तो ये बातें हो गईं, मगर ऊपर कुछ ऐसा मकान बना था कि शिवदत्तजी को इसकी खबर तक न हुई। यमुना जब पिता से विदा हो चुका, तो रास्ते में माता की दशा देख-कर भौचक्का-सा हो गया। आँखे लाल-लाल चढ़ी हुई थीं। शरीर थर्रा रहा था। साँस जल्दी-जल्दी चल रही थीं। मगर उसने कुछ भी न कहकर अपनी राह ली।

जब इंदुमती शिवदत्त के पास पहुँची, तो शिवदत्त ताड़ गए कि हो न हो, कोई बात हुई है। आते ही पूछा—"क्यों, क्या हुआ? क्यों चुपचाप खड़ी हो? कुछ कहो भी, क्या हुआ? तुम्हारी भवें चढ़ी हुई हैं। जल्दी-जल्दी साँस खींच रही हो। बदन काँप रहा है। आखिर इसका कारण कुछ तो अवश्य होगा। क्यों, सकोच की कौन-सी बात है?"

पति के पूछने पर इंदुमती ने सारा वृत्तांत, जो अभी मुर्जी के संबंध में हुआ था, आदि से अंत तक कह सुनाया। यह सुनकर शिवदत्तजी तो मौन हो गए। पति का यह हाल देख इंदुमती भी थोड़ी देर चुप रही। अंत में उसी ने फिर बात छेड़ी और पूछा—अब क्या सलाह देते हो ?

शिव०—सलाह क्या ? बस अब यह काम नरमी से नहीं होने का। जो ईश्वर को ऐसा कहे, वह मनुष्य नहीं। जब वह ईश्वर ही को नहीं मानती, जो उसका सिरजनहार है, तो फिर वह दूसरे का सत्कार क्योंकर कर सकती है ? फिर उसमे मनुष्यत्व कहाँ रहा ? ऐसे से तो पानी भी नहीं छुआना चाहिए। परमात्मा ने इतना अच्छा किया कि उस समय मैं न था, नहीं तो मैं उसे ऐसा कहने का अवसर ही नहीं देता। तुरंत तलवार उठाकर दो टुकड़े कर देता। अब तो यही एक बात है कि पालकी मँगाकर इसे सुसराल पहुँचवा देना चाहिए। जाय अब मेरे घर से, यह हमेशा के लिये विदा हो जाय।

इंदु०—हाय-हाय! अब तुम यह क्या कह रहे हो ? एक तो वह अपनी मर्यादा स्वयं बेच चुकी है, दूसरे जिस समय पालकी द्वार पर पहुँचेगी, तो लोग हमें क्या कहेंगे ? मैं यदि ऐसा जानती, तो जब तुम्हारी बीमारी में समधियाने से लोग आए थे, और विदाई के लिये जोर दिए हुए थे, मैं विदा कर

देती। मगर तुम्हारी ही बीमारी के कारण भेजना स्वीकार नहीं किया। अब भला इस तरह बिना बुलाए भेजने में कितनी बदनामी होगी ?

शिव०—जिस अभागी स्त्री के निकट ईश्वर का आदर कुछ नहीं, उसका संसार में कहीं आदर नहीं। वह इसी योग्य है कि बदनामी और बेहयाई का टोकरा सिर पर ओढ़े रहे। यदि तुम्हें कुछ आशा है, तो तुम उसके साथ सिर खपाओ; मगर मुझे तो निश्चय हो गया कि यह अब सुधरनेवाली नहीं। जब उसके कलेजे में दिल ही नहीं है, तब हमारी बातों का असर ही क्या होगा ? और यदि तुम उसे ससुराल भेजना नहीं चाहती, तो जैसा जी में आवे, करो। किंतु मेरे लिये यह असंभव है कि मैं ऐसे विद्रोही को अपने घर में रहने दूँ, औरजो अन्न ईश्वर ने मुझे दिया है, मैं इस अभागी को दूँ। यह मुझसे कदापि नहीं हो सकता।

इंदु०—परंतु ईश्वर के यहाँ तो भले-बुरे सबको अन्न मिलता है।

शिव०—हाँ यह ठीक है, मगर उस अन्न को इसे कदापि नहीं दे सकता।

इंदु०—फिर ऐसा कठोर होने से तो घर में कोई भी नहीं रह सकता।

शिव०—न रहे, मुझे ऐसे घर की कुछ भी परवाह नहीं, जिसका कोई ठिकाना नहीं कि कब है कब उजड़े। मैं तो केवल उस-की चिंता में हूँ जो सर्वदा रहनेवाला है। अच्छा हो, यदि यह घर मेरे ही सामने उजड़ जाय।

इदु०—परंतु मुझसे यह बरदाश्त नहीं हो सकता कि अपने ही हाथों से दिल को कलेजे से दूर कर दूँ। क्या बच्चों को इसीलिये पाल कर बड़ा किया था कि आज मैं उन्हें घर से निकाल दूँ।

शिव०—मगर मैंने निकालने को कब कहा? क्या सुर्जी कभी सुसराल नहीं गई है?

इंदु०—एक ख़ुशी-ख़ुशी जाना, एक रंजीदगी में जाना। इसमें कितना अंतर है। जब लड़की हँसी-ख़ुशी से जाती है, तो कितना अच्छा मालूम होता है; और एक इस समय का जाना कि जीवन पर्यंत के लिये बिछोह रहे। मुझे याद है कि मैंने सुर्जी को कभी फूल से भी नहीं मारा। इस समय न-जानें क्या हुआ, जो मैंने ऐसा किया! पहले जब कभी वह मुझे उत्तर देती, तो मैं हँस देती थी। पर इस समय का व्यवहार देख मुझे स्वयं आश्चर्य होता है। इतनी भी मुझे ख़बर नहीं रही कि आख़िर वह ब्याही है, बाल-बच्चे-वाली है।

शिव०—यदि इस समय तुम उसे न मारतीं, तो फिर मैं तुमसे पूछता कि तुम कैसी माता हो, जो अपनी संतान को इस प्रकार स्पष्ट-रूप में ईश्वर के विरुद्ध कहते देखो और चुप्पी लगा जाओ ? यह कहाँ का प्रेम है कि माता अपनी सन्तान को पाप का सामान इकट्ठा करते देखे और उसमें आग लगाने की युक्ति न सोचे ? क्या तुम अपनी सतान को कठोर कारा-वास में जकड़ी देखकर प्रसन्न होगी ? क्या यह समझती हो कि वहाँ का थप्पड़ तुम्हारे थप्पड़ से कमज़ोर होगा ? क्या तुम इस पाप की भागी न होगी कि जब ईश्वर ने तुमको सब प्रकार से संपन्न तथा समर्थ बनाया कि तुम अपनी सतान तथा छोटों को सन्मार्ग पर चलना सिखाओ और अपने जीवन को आदर्श बनाकर भविष्य के लिये निर्मल उदाहरण छोड़ जाओ, पर इसके विरुद्ध तुम कुछ भी न करो क्या तुमने ईश्वर की आज्ञा के प्रतिकूल काम नहीं किया ? उसका इस प्रकार ईश्वर के विरुद्ध कहना तुम्हें बुरा नहीं लगा ?

इंदु०—बुरा न लगता, तो मारती क्यों ?

शिव०—अच्छा ही किया। उस समय तुम्हें ऐसा करना उचित था। परंतु अब इसके लिये पश्चात्ताप करना पाप माना जायगा।

इंदु०—लेकिन पुत्री जो हाथ से जाती है ?

शिव०—यह तुम्हारी परीक्षा का समय है। धर्म और संतान, ये दो चीज़ें तुम्हारे सामने हैं। दोनो का इस जगह मिलना असंभव देख पड़ता है, इसलिये कि हमारी संतान धर्म की वैरी है। यदि संतान का मोह है, तो धर्म और ईमान से हाथ धोना पड़ेगा। और यदि यह आवश्यक है, तो फिर संतान को तिलांजलि देनी होगी। अब तुम्हारी मरज़ी है, इन दोनो में जो चाहो, लो। बताओ, तुम्हें क्या पसंद है? धर्म या संतान?

इंदु०—धर्म, जो परलोक मे काम आये।

शिव०—धन्य है। निस्संदेह धर्म का पल्ला भारी है।

इंदु०—रही संतान। क्या करूँगी। छाती पर पत्थर रक्खूँगी। क्या ख़बर थी कि इस अभागे पेट को यह आग लगेगी और इस निकम्मी कोख मे ऐसे कीड़े पैदा होंगे?

यह कहकर इंदुमती फूट-फूटकर रोने लगी। यह दृश्य शिवदत्तजी भी न देख सके। इनकी आँखों से भी आँसू की धारा निकल चली। थोड़ी देर बाद अपने को सम्हालकर इन्होंने कहा—प्रिये, धीरज धरो। ज़रा कलेजे को कड़ा करो। बिना ऐसा किए काम नहीं चलने का। अपने कार्य के लक्ष्य को याद रक्खो। परमात्मा हमारी मनोकामना अवश्य पूरी करेगा। वह चाहे, तो हमारी संतान को एक पल में सुधार दे

और एक-एक को धर्म की मूर्ति बना दे। अच्छा, अब यह बताओ कि सुजी कोठरी में क्या कर रही थी ?

इंदु०—रो रही थी। मैं चलती बेर यह कह आई हूँ कि किवाड़ खोलकर उसे पानी दे देना।

शिव०—और भोजन ?

इंदु०—क्या कहना ? न अभी दो दिन, न चार दिन, अभी से खाना ?

शिव०—यह तो बड़ी ख़राबी की बात है।

इंदु०—और क्या। बड़ा रोना तो खाने ही का है। वह मुझसे चाहे महीनों न बोलती परंतु खाना खा लेती, तो कुछ चिंता की बात न थी। इधर उसको तकलीफ़ होगी; उधर बच्चा दूध को तड़पेगा।

शिव०—तुम अपना दूध पिला देना।

इंदु०—मैं तो उसको सौ बार पिलाऊँ। ईश्वर नज़र न लगे, वह ऐसा स्याना बच्चा है कि मा की गोद पहचानता है। लोग ठीक कहते हैं कि ४० दिन बाद लड़का मा की गोद पहचानता है। सोते में तो पिला आई हूँ। जागे में पिए, तो जानूँ कि हाँ पिया।

शिव०—भोजन का यत्न अवश्य करना चाहिए। मैं कह आऊँ ?

इंदु०—ईश्वर के लिये तुम उतरना नहीं।

शिव०—मैं धीरे से समझा दूँगा।

इंदु०—मरदों को ऐसी बातों का कुछ विश्वास नहीं। जिसमें आपकी, जो अभी बातों-ही-बातों से तलवार खींच रहे थे।

शिव०—निश्चय मानो, मैं किसी प्रकार की सख़्ती न करूँगा।

इंदु०—नहीं-नहीं। तुम्हारा बीच में पड़ना ठीक नहीं। कोई ऐसा भी घर में रहना चाहिए जिसका भय बना रहे। माना कि तुम गए। इस समय वह क्रोध मे जली है। कहीं कुछ कह दिया, तो ठीक न होगा। ऐसी दशा में उसे इस बात की लज्जा आयगी कि देखो बाप होकर समझा गए और न मानी, तो फिर मेरा मानना बड़ी लज्जा की बात होगी। इसलिये तुम अलग रहो, यही अच्छा है।

शिव०—अच्छा तो एक काम करो। उसकी सखियों में से किसी एक चतुर को बुलाओ। वह उसे समझाकर मना लेगी।

इंदु०—यह तुमने बहुत ठीक सोचा। अभी मैं अपनी भतीजी श्यामा को बुलाती हूँ। उसके विचार कुछ धर्म की ओर पहले ही से हैं, दूसरे यह कि दोनो एक ही उम्र की हैं। वह ख़ूब समझाएगी।

शिव०—हाँ, उससे खूब पटती भी है। मगर यह तो बताओ, उसके ऐसे विचार कैसे हुए ?

इंदु०—अभी तक तुमको मालूम ही नहीं ? मेरी बहन को तो अच्छी तरह जानते होगे। बेचारी विधवा होने पर भी किसी-न-किसी तरह अपना निर्वाह कर लेती है। साग-सत्तू ही सही। जो कुछ ईश्वर ने दिया, उसी में संतुष्ट रहती है। जो कुछ बच्चों के खाने के बाद बचा, उसी को ग्रहण कर अन्नपूर्णा देवी को धन्यवाद देती हैं। जब देखो, तब अपने बच्चों को धर्म ही की बातें सिखाया करती है। दरिद्रता इस प्रकार की कि घर का सारा काम अपने ही हाथों करना पड़ता है। तो भी ईश्वरोपासना ठीक समय पर किया करती है। सवेरे ही उठकर आटा पीस लेगी, बरतन इत्यादि माँजकर चौका लगा लेगी, घर-द्वार झाड़कर ठीक कर देगी। तब फिर नहाकर पूजा पर बैठेगी। तब तक लड़के उठेंगे। कोई पठन-पाठन में लग जायगा, कोई खेल में मग्न रहेगा। वह उठेगी, जल्द चौके में जायगी और श्यामा को पास बिठाकर भोजन बनाएगी तथा उसे भी सिखाती जायगी। वह बीच में बैठी सूत कातेगी और बच्चे चारों ओर बैठे उसी स्वर में अपना स्वर मिलाकर ईश्वर-वंदना करेंगे। इसके बाद वह उन लोगों को धार्मिक शिक्षा देती है, और जो कुछ सूत तैयार करती है, उसी को बिकवाकर गेहूँ-दाल मँगवाकर घर का काम चलाती

है। जरूरत पर कपड़े भी बुन लेती है। लोग उसे यह काम करते देख हँसते और कहते हैं कि तू जोलाहिन है, क्योंकि यह काम तो जोलाहे का ठहरा। इस पर वह कुछ भी ध्यान न देकर अपना कार्य दृढ़ता-पूर्वक करती जाती है। एक बार का उत्तर सुन मैंने भी दिल मे ठाना कि मैं भी अब चरखा चलाऊँगी; परंतु घर के काम-धंधे से अवकाश ही नहीं मिलता।

शिव०—वह उत्तर क्या था, उसे तो कहा ही नहीं?

इंदु०—जब उससे लोगों की हँसी और ताना न सहा गया, तो उसने उन लोगों से यही कहा—"मेरी तुच्छ बुद्धि में बहनो, जोलाहे का काम भला पर जोलाहे की गुलामी अच्छी नहीं।"

शिव०—धन्य-धन्य! उत्तर तो बहुत ही ठीक दिया। यह सुनकर तो सब चुप लगा गई होंगी?

इंदु०—जो समझदार थीं, उन्होंने तो इनकी बातें मान लीं और दूसरे दिन से चरखा चलाने का निश्चय किया; परंतु जिनमें परतन्त्रता का भाव कूट-कूटकर भरा था, जिनके नेत्रों पर आलस्य, अविद्या और अज्ञान के परदे पड़े थे, वे भला कब माननेवाली थीं? मगर अब धीरे-धीरे वह भी पिघलने लगी हैं। आशा है, यदि इसी तरह एक दूसरे को शिक्षा

देती गई, तो यह प्रथा बहुत ही शीघ्र समस्त भारतवर्ष में फिर से फैल जायगी।

शिव०—दूसरी बात यह भी तो है कि अब देश में धर्म और शांति का अच्छी तरह से प्रचार हो रहा है। लोगों की आँखें भी खुली हैं। अच्छा, आज से यह निश्चय कर लो कि हम लोग भी चरखे चलाएँगे और इसके प्रचार के लिये हम मरदों मे और तुम स्त्रियों में तन-मन से उद्योग करेंगे। परंतु शिक्षा देने के पहले हमको कार्य आरंभ कर देना चाहिए। नहीं तो फिर हमारी बातो का कुछ भी प्रभाव न पड़ेगा। तुम्हारी बहन तो धन्य हैं। वह अबला स्त्री होकर देश का हर प्रकार से उपकार कर रही हैं। इधर तो अपने बच्चों में अच्छे-अच्छे विचार का संचार, उधर चरखे का प्रचार। अच्छा, उनसे कह देना कि अब उनके दुःख के दिन गए। मैं तन-मन-धन से उनकी सहायता करने के लिये उद्यत रहूँगा।

इंदु०—वह तो आजकल मुझसे नाराज़ हैं। मैं भला कैसे कहूँगी? और दूसरे यह उनका कहना है कि जब तक हममें पौरुष है, तब तक किसी के कृतज्ञ नहीं हो सकते। अगर होंगे, तो केवल जगत्पिता परमात्मा के। जब उसने आकाश में सोने-चाँदी की रोटियाँ दी हैं, तो क्या पृथ्वी पर एक जौ की रोटी भी नहीं देगा?

शिव०—क्या कहना, सोने में सुगंध ! अच्छा,, वह असंतुष्ट क्यों हैं ?

इंदु०—इसीलिये कि मैं चरखा क्यों नहीं चलाती, बच्चों को धार्मिक शिक्षा क्यों नहीं देती और लड़कियों को गिरिस्ती के कार-बार मे क्यों नहीं लगाती। वह तो श्यामा को भी नहीं आने देतीं, मगर केवल सुर्जी के प्रेम-वश उसे घर के कार्य से छुट्टी मिलती है, तो बहुत आग्रह कर आज्ञा लेकर थोड़ी देर के लिये यहाँ आ जाती है। उनका कहना है कि ऐसे घर में उठने-बैठने से वह भी वैसी ही हो जायगी।

शिव०—बात तो ऐसी ही है। हम ऐसे ही गए-बीते हैं। अच्छा, अब अपनी प्रतिज्ञा उनसे जाकर कहना। वह अवश्य तुम्हें अपनी शरण में ले लेंगी। वह देवी हैं और फिर तुम्हारी बड़ी बहन ठहरीं, अच्छा, यह तो हो चुका। अब जाओ सुर्जी के लिये जो कुछ कहा है, जाकर शीघ्र करो। अपनी बहन को भी कहना कि जब कभी उन्हें समय मिले, तो हमारे यहाँ भी कृपा किया करें, ऐसा करने से हमारे बच्चे भी उनके बच्चों के साथ उठने-बैठने से उनकी-सी आदत सीख लेंगे। आज जो इनमें एक मिनट भी नहीं पटती, कल देखना कैसे प्रेम के साथ मिल बैठेंगे। हमारी लड़कियाँ जो दूसरों को अच्छी-अच्छी चीज़ों से सुशोभित देखकर एड़ी रगड़ने लगती हैं, वह फिर

उनकी संगत से किसी तरफ आँखें उठाकर न देखेंगी । हमें तो तुम्हें देखकर आश्चर्य होता है कि एक ही दूध के दो छर्रे और उनमें इतना अंतर ? उनमे संतोष, शांति, धर्म इत्यादि का संचार, और तुम इन सबसे वंचित ?

इंदु०—क्षमा करना । जब कहलाया, तो कहना ही पड़ा। मा के घर में भी वैसी ही थी । संगत का भी भारी प्रभाव पड़ता है । तुम्हीं ने तो मुझसे गाढ़ा छुड़वाया ? क्या तुम इसका पहनना बुरा नहीं समझते थे ? क्या मुझे विदेशी चिकनी-चिकनी चीजें देकर मेरी शांति और संतोष में भंग नहीं डाला ? जाने दो, जो बात हो गई, सो गई । यह तो प्रारब्ध की बात थी । नहीं तो मेरी मा ने तो वह शिक्षा दी थी कि आज उसके लिये लोग रोया करते हैं । जब मैं विदा हुई और पहले-पहल इस जगह आई, तो उन्होंने अम्माजी (सास) को पत्र में लिख दिया था कि देखिए, इसकी नित्य-क्रिया और धार्मिक पुस्तकों के अवलोकन में किसी प्रकार की बाधा न पड़े । परंतु यहाँ तो यह हाल था कि शरम के मारे घूँघट उठता ही न था। स्त्रियाँ इस तरह दिन-रात घेरे रहतीं कि मेरा सारा काम रुक गया । दो-चार दिन तक तो इसका दुःख था, परंतु जब आदत पड़ गई, तो फिर इसकी तरफ आँख भी नहीं उठाई जाती थी । ईश्वर का ध्यान तो इस

प्रकार से छूटा और पढ़ना-लिखना ऐसा बंद हुआ कि आप गई और बाल-बच्चों को भी बिगाड़ती गई। मेरी तो वही दशा हुई, जैसा कि लोग कहा करते हैं कि "जिसने की शरम उसके फूटे करम।" अम्माजी ने इस पर कुछ भी ध्यान नहीं दिया। यदि ध्यान दिया, तो गिरिस्ती के कार-बार पर। अच्छा, अब तुम्हीं बताओ, इसमें कभी मैं चूकी हूँ? कभी अपने मायके की नाम-हँसाई की है? अब बीती हुई बातों का कहाँ तक विस्तार किया जाय?

शिव०—ठीक है। असल दोषी मैं ही हूँ। मैंने.........।

इंदु०—फिर तुम वही बात लेकर चले। वास्तव में दोषी तो मैं हूँ, जो अपना धर्म गँवा बैठी। यदि इन सब बातों में न पड़ती, तो काहे को आज पापों का ढेर लगाती? मैं तो बहुत कृतज्ञ हूँ कि तुमने मुझे डूबते से बचा लिया।

शिव०—अच्छा, इसका निबटारा फिर कर लिया जायगा। इस समय जो काम उपस्थित है, पहले जाकर उसे करो। मगर हाँ, जो कुछ मैंने कहा है, उस पर पूरा ध्यान रहे।

इसके बाद इंदुमती नीचे आई, और श्यामा के लिये उसी दम डोली भेजी, और दासी से कह दिया कि देख, जब श्यामा आ जाय, तो मुझे ख़बर देना।

आठवाँ परिच्छेद

साँच को आँच क्या ?

शिवदत्तजी सुंदरकांड में लंका का दृश्य देख रहे थे एकाएक टन-टन चार बजे। अब इनका ध्यान टूटा। तु रामायण बंदकर एक दासी को पुकारा और कहा कि "जा देख, नर्मदा स्कूल से आए हों, तो जल्द भेज दे। कह देना एक जरूरी काम है, जरा सुनकर चले जायँ।"

अभी यह स्कूल से आकर जूता खोल रहे थे कि गुल ने पिता का संदेशा सुनाया। यह सुनते ही जल्दी उठ कपड़ लत्ता बदल, किताबों को ठिकाने रख, यह पिता के सामने खड़े हुए और नमन कर पास बैठ गए। देखते ही पिता कहा—"आओजी, हमने सुना है, आजकल तुम्हें बहुत मिहन करनी पड़ती है।"

पुत्र—जी हाँ, छःमाही इम्तहान बहुत नजदीक है। इस से कुछ पढ़ने में अधिक परिश्रम करता हूँ। दिन बहुत थों से रह गए हैं और काम बहुत बाक़ी है। बहुत सोचता हूँ रात्रि में घर पर पुस्तकों का अवलोकन किया करूँ, पर नहीं बन पड़ता। जो लोग बड़े भाई के पास आकर बैठ

जमाते हैं, उनके ऊधम मचाने का कुछ हिसाब नहीं। मैं आपसे क्या कहूँ, बस इतना ही संक्षेप मे समझ ले कि मेरा जी एक-दम उचटा जाता है। पढ़ना-लिखना तो किनारे रहा, एक मिनिट भी घर अच्छा नहीं मालूम होता।

पिता—फिर तुमने इसका कुछ उपाय नही किया ?

पुत्र—पिताजी, उपाय मेरे वश में नहीं है। रात तो बिल-कुल व्यर्थ बीतती है। हाँ, दिन मे तड़के ही किसी साथी के वहाँ चला जाता हूँ। वहीं, जो कुछ होता है, पढ़ लेता हूँ।

पिता—और बड़ी परीक्षा की भी कुछ तैयारी करते हो ?

पुत्र—अभी उसके लिये बहुत समय है। पहले इससे निबटारा पा लूँ, तब उसका भी यत्न करूँगा।

पिता—क्या उसका कोई समय नियत है ?

पुत्र—जी हाँ। वह प्रायः वैशाख के महीने में होती है।

पिता—नहीं-नही, तुम बात को नही समझे। मेरा तात्पर्य उस इम्तहान से है, जो ईश्वर के प्रति देना होगा। क्या वह सबसे बड़ी परीक्षा नहीं है ?

पुत्र—जी। वास्तव में तो सबसे बड़ी और कठिन परीक्षा वही है।

पिता—तो क्या जब हम तुम्हारी संसार की इन छोटी-छोटी

परीक्षाओं का ध्यान रखते हैं, यदि उस बड़ी परीक्षा के संबंध में हमने तुमसे कुछ पूछा, तो क्या कुछ अनुचित किया ?

पुत्र—पिताजी, यह तो मैंने आपसे कभी कहा भी नहीं। ऐसा कहना तो मेरे लिये अनुचित है और फिर भी आपसे ! इसे तो मैं पाप समझता हूँ।

पिता—अच्छा, तो मैं सुनना चाहता हूँ कि उस बड़ी परीक्षा की तुम क्या तैयारी कर रहे हो ?

पुत्र—मैं आपसे मिथ्या क्यों कहूँ ? वास्तव में मैंने उसके लिये लेश-मात्र भी तैयारी नहीं की है।

पिता—क्या यह बेपरवाही नहीं है ?

पुत्र—पूज्यवर, बेपरवाही भी ऐसी-वैसी ? शुरू से आखीर तक।

पिता—लेकिन तुम्हारे-ऐसे बुद्धिमान् बालक को, जो संसार की अल्प शिक्षाओं के लिये महीनों पहले, बल्कि साल के प्रारंभ ही से इतना कष्ट उठाते हों, इस प्रकार से, उस परीक्षा के लिये, निश्चिंत रहना बड़े आश्चर्य की बात है।

पुत्र—मेरा अभाग्य।

पिता—परंतु तुम्हारी बेपरवाही का कोई और कारण अवश्य होगा।

पुत्र—यही कि वहाँ की परीक्षा में उत्तीर्ण होना मेरे भाग्य में नहीं है।

पिता—तुम उत्तर देते हो, किंतु इसमें केवल शब्दों का फेरफार है। मैं बेपरवाही का कारण पूछता हूँ और तुम भाग्य की बात लेकर उठते हो। जब यही बात है, तो फिर मनुष्य क्यों दोषी माना जाता है। जिसके भाग्य मे पुण्य करना है, उसने किया; जिसके भाग्य में नही है, उसने नहीं किया। यह कहना तो और कुछ नहीं, कर्तव्य-संबंधी शंका है। अच्छा, इसे छोड़ो। जो असल बात है, उसको कहो। यह बताओ कि जब तुम अपनी बेपरवाही को जानते थे, तो फिर ऐसी कौन-सी वस्तु थी, जो तुम्हारी इस असावधानता में सहायता करती थी? क्या तुम यदि चाहते, तो इसे दूर नहीं कर सकते थे?

पुत्र—क्या कहूँ। संगत का प्रभाव बड़ा प्रबल होता है। इस घर में धर्म की चर्चा न होने ही ने मेरे स्वभाव को इधर ला झुकाया। मैं चाहता तो था कि इस बेपरवाही को त्याग दूँ, परंतु कैसे त्यागता। काजल की कोठरी में रहकर कालिख से बचा रहना बिलकुल असंभव है।

पिता—निस्संदेह तुम्हारा कहना बाल-बाल ठीक है। तुम्हारी बेपरवाही के लिये मैं ही दोषी हूँ। यदि मैं तुम लोगों से इस

प्रकार बेपरवाह न रहता, तो आज मेरी अधोगति न होती। मैं
ब्राह्मण के कुल में जन्म लेकर ब्राह्मणत्व को डुबा दिया। मेरी
यह दशा कि मेरे बच्चे मुझे धिक्कारें और मैं उनसे अ
दोषों को स्वीकार करूँ! सत्य है, जो पहले नहीं चेतता, उस
यही दशा होती है। मैंने सब कुछ पढ़के क्या किया,
उसके अनुसार कार्य ही नहीं किया। थूको, आज छोटे
सब मुझ पर थूको। मैंने तुम्हारे साथ बड़ा ही अपराध कि
है। वास्तव में मैं इसी योग्य हूँ कि तुम लोग खुले तौर
मुझे धिक्कार दो। मैंने . .

पुत्र—हैं-हैं पिताजी, आप मुझे क्यों लज्जित करते हैं।
तो स्वयं ही अपनी भूल को स्वीकार करता हूँ। इसमें
सरासर मेरा ही क़सूर है। ईश्वर ने मुझे इतनी मोटी ब
के समझने के लिये बुद्धि दी थी कि मुझे एक-न-एक
मरना है। और मेरे जन्म लेने से कदापि यह तात्पर्य न हो
चाहिए कि मैं पशुओं के समान अन्न और पानी से अप
पेट भरकर सो रहा करूँ।

पिता—तुम्हारी बातों से प्रकट होता है कि धार्मिक वि
तुम्हें भले प्रकार से मालूम हैं। परन्तु न तो धार्मिक मर्मों
मैंने तुम्हें कुछ शिक्षा दी और न उनके सीखने की
ताकीद की। स्कूलों में सिवाय इतिहास, भूगोल, ग

इत्यादि के और कोई दूसरी चीज़ की शिक्षा नहीं मिलती। फिर तुमने ये बातें जो सीखी हैं सो कहाँ से ?

पुत्र—इसमें कोई संदेह नहीं कि छोटी-सी अवस्था में कुछ संस्कृत के श्लोक रटाए गए थे। थी तो वे बड़े काम की चीज़ें, परंतु मैं जब उन्हें समझ ही नहीं सकता था, तो उनका महत्त्व मैं क्या जानता। यों तो स्कूल में भी कभी जलसों की तैयारियों में याद करने का सौभाग्य प्राप्त होता था, परंतु उससे क्या होता है ? इस प्रकार रटा जैसे तोता। कुछ भी न समझा कि इनके अर्थ क्या हैं ! वहाँ की पढ़ाई का, पिता-जी, मैं क्या हाल कहूँ। वहाँ तो केवल लड़के मार के डर से जो चाहें सो याद कर लें। वरन् मैं आपसे सत्य कहता हूँ कि यदि आप किसी ऊँचे कक्षा के शिक्षक से एक साधा-रण प्रश्न भी करें, तो वह सिवाय सिर खुजलाने के और कुछ उत्तर न देगा। और यदि कुछ दे भी, तो इससे उसका चुप ही रहना अच्छा था। अध्यापकों का यह हाल है कि पक्षपात से भरे। जिस पर प्रसन्न हो गए, वह तो समझिए कि बड़ा पढ़ने-वाला है, उसके नाम तो पास होने की रजिस्ट्री हो चुकी है। और जिससे किसी बात में असंतुष्ट हुए, तो समझ लीजिए कि चाहे वह कैसा ही परिश्रमी क्यों न हो, सर्वदा बेचारा बेत ही के नीचे झुका रहेगा; और इम्तहान में तो अवश्य ही

असमर्थ हूँ। हाकिम ज़रा पुराने ख़याल के थे। इस बेचा की प्रार्थना को स्वीकार किया और वकील साहब से हिंदोस्तानी भाषा में बहस करने को कहा। यह सुनकर तो वकी साहब अचकचाए और अंत में यह कहा—"श्रीमान्, मैं सिवा अँगरेज़ी के और किसी भाषा मे भले प्रकार से अपने विचा को प्रकट नही कर सकता।" अब यहाँ देखो कि इन्होंने कित परिश्रम और कितना धन-व्यय किया होगा, परंतु सिवा अपने घर की बोली भूलने के और क्या लाभ उठाया? माना कि बहुत-सा द्रव्य कमाएँगे, परंतु किस काम का? जब अपनी अमूल्य पूँजी खोई, तो कहीं थोड़ा-सा धन जमा किया, थू है ऐसी शिक्षा-प्रणाली पर।

पुत्र—पिताजी, यदि केवल यहीं तक होता, तो भी किसी तरह मान लेते। परंतु यहाँ तो अपनी भाषा के अतिरिक्त अपना धर्म भी दे देना पड़ता है। न-जाने इस शिक्षा में कौन-सा प्रभाव है कि जब तक लड़का घर पर रहा, तब तक तो कुशल थी, जहाँ उसने स्कूल में पैर रक्खा कि अपने माता, पिता, भाई, बंधु इत्यादि की मान-मर्यादा को भूल अपना ही स्वर अलापने लगता है। धर्म-संबंधी जो बातें हैं, उनका तो कहीं लगाव ही नहीं रहता। अपने पूर्वजों को अपने आगे निपट और जंगली बनाने लगता है। यदि किसी ने हित की

भी बातें कहो, तो फट से बोल उठता है—"तू हिंदोस्तानी काला चमड़ेवाला क्या जाने ? न-जाने यह कहाँ के गोरे चमड़े-वाले आए ?"

पिता—यह सब धार्मिक शिक्षा के न होने का फल है। अब तो हम देखते है कि इसकी चरचा ही उठी जाती है। जिस देश के पक्षी भी संस्कृत-श्लोक मे बाते करते थे और धर्म की शिक्षा बीच राजदरबार में दिया करते थे, उस देश की यह अधोगति कि आज हिंदी भी यहाँ से बिदा हो चली, मनुष्यों मे धर्म लेश-मात्र भी नहीं रहा ! यदि यही हाल रहा, तो न-जाने इस देश की क्या दशा होगी।

पुत्र—पिताजी, इसमे तो सरासर हमीं लोगों का दोष है। यदि हम लोग ऐसे विद्यालयों का पूरी तरह से बहिष्कार कर दें, तो फिर यह रोना क्यों मत्थे पड़े। अपनी स्वतन्त्रता के साथ ही हमने धर्म का भी परित्याग किया। फिर इसकी स्थापना करने के लिये हम अपने पुराने ढग अख्तियार करें। अपनी भाषा का उद्धार करने के लिये अलग पाठशालाओं का स्थापन करें। माना कि हमारा देश दरिद्र हो रहा है, हममे इतनी शक्ति नहीं कि आज ऐसे विद्यालय खोल सकें, तो क्या हमें उद्योग भी न करना चाहिए ? हम कुर्सी, मेज़, टेबल इत्यादि अपने पाठशालाओं में नहीं रख सकते, तो क्या

हमारा काम हो नही चल सकता ? यदि हम इन पक्के भवन के बदले झोपड़ियो में या वृक्षो को छाया में पढ़ें, तो क्या विद्वान् नहीं हो सकते ? हम यदि अपने खर्चों को कम कर दें, तो क्या इन छोटी-छोटी बातो का प्रबंध नही कर सकते ? यदि हम अपने माता-पिता से नम्र भाव से निवेदन करें, तो क्या वे हमे इस विचार में उत्साहित नही करेंगे ? इसमें तो उनका हर प्रकार का फ़ायदा है। जब हम इन सब बखेड़ों का परित्याग करते हैं, तो फिर इतना अधिक महीना देने की आवश्यकता ? सबसे बढ़कर तो बात यह है कि हम कोट-पतलूनवालों को पूछेंगे ही नहीं। हमें तो केवल उनकी जरूरत है, जो अपने देश को अपना देश समझते हैं। सब बालकों को अपने बालक के समान मानते हैं। देश के हित के लिये अपना सर्वस्व अर्पण करने के लिये तैयार हैं। हम जिस तरह से होगा, उन्हें लावेंगे। पहले उन्हें खिलाकर तो हम खावेंगे। उनकी सेवा बजा लावेंगे। हर प्रकार से उनके गृहस्थी के बोझ को कम करेंगे। और तब कहेंगे कि "महाशय, अब आप देश की सेवा के लिये निश्चित हो घर से बाहर पैर रक्खें। जिस प्रकार से हो, भारत का उद्धार करें। हममे शिक्षा और धर्म का प्रचार करें। देश में विशुद्ध प्रेम का सचार करें। क्यों पिताजी, इसमें आपकी क्या राय है ?"

पिता—पुत्र, मै तुम्हे पाकर बड़ा ही भाग्यशाली हुआ। तुम्हारा विचार बहुत ही ठीक है। जब तुम मोटा पहनने और मोटा खाने के लिये तैयार हो, तो इसके अतिरिक्त अपनी विद्या का प्रबंध कर सकते, और अपने भूखे तथा ठिठुरते भाइयों की भी सहायता कर सकते हो। मैं तुमसे बहुत ही प्रसन्न हूँ। यथाशक्ति मै तुम्हारे विचार को कार्य में परिणत करने का उद्योग करूँगा। मैं अपने मित्रों को भी ऐसी ही सलाह दूँगा और उनसे भी सहायता के लिये प्रार्थना करूँगा। पहले तो लोगो की समझ मे यह बात कम आवेगी। परतु उद्योग करने से वह अवश्य पिघलेगे। तुम बालको मे इस विचार को फैलाओ। अपनी माता को सुनाओ और कहो कि जब कभी अवसर मिले, तो वह इस विषय को स्त्रियों मे छेड दिया करें; क्योंकि यदि वे इन स्कूलों के विरुद्ध अपने-अपने पतियों से अनुरोध करेगी, तो उन पर बहुत असर पड़ेगा और तब निश्चय मान लो कि वे अपने-अपने बालको को अवश्य ऐसे लगाव से दूर रक्खेगे। परंतु यह तो बतलाओ कि तुम सब कुछ तो कह गए, किंतु तुमने अभी तक क्या किया? जब तक तुम स्कूल न छोड़ोगे, तुम्हारे कहने का प्रभाव क्योकर दूसरों पर पड़ सकता है?

पुत्र—पिताजी, मेरा किस्सा बड़ा लंबा-चौड़ा है। एक दिन

की बात है कि मैं लडन-रहस्य पढ़ रहा था। यह किता मैंने स्कूल के पुस्तकालय से ली थी। मै इस प्रकार इस लीन था कि मुझे खाने की भी सुध न रही। एतवार का दि था, स्कूल तो जाना ही न था, मजे से बागीचे में बैठा उसी लीन हो रहा था कि एकाएक चारो ओर से मेघ घिर आ और देखते-देखते मूसलाधार वृष्टि होने लगी। छाता तो पास था ही नहीं, तुरत सामनेवाली ठाकुरवाटी मे चला गया। वह देखा, तो एक बाबा जी बैठे कुछ पढ़ रहे थे। मैं उन्हे नमस्का करके वहीं उनके सामने बैठ गया। बाबाजी बड़े भद्र थे आशीर्वाद दे मेरे पढ़ने का हाल पूछने लगे। इतने में उनकं दृष्टि उस पुस्तक पर पहुँची। देखते ही बाबाजी का रंग बदल गया। उन्होंने पूछा—"बच्चा, यह किताब कहाँ से लाए ?"

मैं—बाबाजी, यह पुस्तक मै अपने स्कूल के पुस्तकाल से लाया हूँ। पुस्तक बहुत ही रोचक है। इस... .

मैं और कुछ कहना ही चाहता था कि बीच में बाबाजी बोल उठे—"क्यो बच्चा, ऐसी-ऐसी पुस्तक वहाँ इसीलिये रक्खी जाती हैं कि छोटे-छोटे बालक उन्हें पढ़कर अपनी बुद्धि भ्रष्ट कर दे ? क्या तुम्हारे गुरु इनके पढने के लिये मना नहीं करते ?"

मैं—बाबाजी, ऐसी-ऐसी तो वहाँ कई पु[illegible]।

मास्टर सभी पढ़ते हैं। परंतु यह आपने जो कहा कि इसके पढ़ने से लड़कों की बुद्धि नष्ट हो जाती है, यह बात मेरी समझ में नहीं आई ?

बाबा—समझ मे कैसे आती। तुम्हारी बुद्धि पर तो यहाँ की शिक्षा का पत्थर पड़ा हुआ है। जहाँ ऐसी-ऐसी पुस्तके रक्खी जायँ, वहाँ की पढ़ाई का क्या कहना। अच्छा, यह बताओ कि वहाँ धर्मशास्त्र की भी चर्चा है या नही ?

मैं—बाबाजी, वहाँ तो कोई यह भी नहीं जानता कि धर्म-शास्त्र कहते किसको हैं।

बाबा—तब तो धिक्कार है वहाँ के पढ़ने और पढानेवालों पर, और उन महापुरुषों पर जो अपने बच्चों को वहाँ भेज-भेजकर इस प्रकार से उनका जीवन नष्ट कर रहे हैं। बस बच्चा, यदि मेरी शिक्षा का कुछ भी मान करो, तो मैं तुमसे कुछ कहूँ।

मैं—अंतःकरण मे मैं आपकी शिक्षा को मानने के लिये तैयार हूँ। जैसा आप कहेंगे मै वैसा ही करूँगा।

बाबा—अच्छा तो सुनो। पहली तो यह बात कि तुम इस पुस्तक को अभी लौटा आओ और इसके बदले लो यह रामायण मै तुम्हे देता हूँ। इसी को तुम अपना वास्तविक शिक्षक मानना। यह तुम्हारे केवल इसी लोक के लिये नहीं,

बल्कि परलोक के लिये भी लाभदायक है। दूसरी यह कि तुम अभी से ऐसे स्कूल को त्याग दो। यदि तुम्हारे माता-पिता तुमसे कुछ विरोध करे, तो उन्हे वहाँ की राम-कहानी कह सुनाओ। फिर तुम देखना कि वह स्वयं तुमको वहाँ जाने से रोकेगे। पहले इन बातो को मुझे करके दिखा दो, तब मै तुम्हे और बहुत-सी गुर की बाते बताऊँगा।

उसी दिन से पिताजी, मैंने स्कूल का परित्याग किया। परतु मैं आपसे एकबारगी साफ-साफ कह देने मे सकोच करता था। मैंने यह सोच रक्खा था कि अभी कुछ दिन तो बाबाजी से शिक्षा ग्रहण कर लूँ, फिर पिताजी को बाबाजी से मिला-कर उन्ही से सब बातो को कहलाऊँगा। परतु मेरा दुर्भाग्य कि बाबाजी दो दिन बाद न-जाने कहाँ चले गए।

पिता—क्यों नर्मदा, अभी तुमने कहा कि मैंने स्कूल का परित्याग किया और पहले आते ही कहा कि इम्तहान की तैयारी कर रहा हूँ। क्या तुम लोगो ने कोई दूसरा स्कूल खोल दिया ?

पुत्र—जी नही पिताजी। मेरे ग्रह ऐसे आ पड़े हैं कि मैं कभी भी अपने जीवन मे सफलता नही पा सकता। जब तक मनुष्य हाथ-पैर नहीं चलाता, तब तक उसे कुछ भी हाथ नहीं लगता ; मगर यहाँ तो कुछ और ही बात है। जब

मैं कुछ करना चाहता हूँ, तो एक-न-एक बाधा पड़ ही जाती है।

पिता—वह क्या ?

पुत्र—पिताजी, जब मैंने स्कूल का जाना बंद कर दिया, तो वहाँ के ड्राइंग (Drawing)-मास्टर ने आकर मेरे भाई साहब से मेरी शिकायत कर दी। यह सुनकर वह बहुत बिगड़े। तुरंत जग्गू को भेज मुझे बुलवा भेजा और ज़रा भी दया न करके लगे मुझे सटासट मारने। मैं मार का कारण पूछता ही रहा, परंतु जब तक उनकी छड़ी टूट न गई, तब तक कुछ भी न बोले। बोले भी तो केवल यही कि अगर कल से तू स्कूल न जायगा, तो याद रख कि इसकी चौगुनी मार पड़ेगी। दिल में तो आया कि ज़रा मैं भाई साहब को फटकारता, परंतु जैसे साँस ली, ऐसा मालूम हुआ कि बाबाजी ने आकर मेरा मुँह बंद कर दिया। तुरंत उनकी शिक्षा याद आ गई और मैं चुप हो गया। उसके दूसरे ही दिन से, क्या करता लाचार, जाना ही पड़ता था। परंतु वहाँ हमेशा यही ख़याल रहता है कि किस प्रकार से मैं उस बंदी-गृह से निकलूँ।

पिता—वह कौन-सी शिक्षा तुम्हें याद आई थी, जिसे याद-कर तुम चुप हो गए ?

पुत्र—वह यह है। एक दिन बातों-ही-बातों में देश-सेवा की बात छिड़ी। उस पर बाबाजी ने कहा—"बच्चा, भूमि-ऋण भी देव-ऋण अथवा पितृ-ऋण से कम नहीं है। प्रत्येक मनुष्य को इस पर ध्यान रखना चाहिए। जिस प्रकार लोग अपने उद्धार के लिये संतान से आशा रखते हैं, उसी प्रकार पृथ्वी माता भी अपनी संतान से अपने उद्धार की आशा रखती है। जो इसका खयाल नही करता, वह मनुष्य नरक के कठोर कारावास के योग्य होता है; क्योंकि किसी की आशा को तोड़ना महापाप है, और वह भी आशा किसकी, जगन्माता पृथ्वी की।"

मैं—परंतु बाबाजी, देश-सेवा कहते किसको हैं और यह क्योंकर हो सकती है?

बाबा—अपने देश-भाइयों की सेवा हर प्रकार से करना, इसी में देश की उन्नति है और यही तो देश-सेवा है।

मैं—सेवा भी किस प्रकार की?

बाबा—इस प्रकार की। उनको सर्व पापों से बचाना। देश में जागृति फैलाना। विद्या और सदाचार का घर-घर प्रवेश कराना। लक्ष्मी, अन्नपूर्णा, सरस्वती इत्यादि का सम्मान करना। धर्म का प्रचार, प्रेम का संचार, परस्पर व्यवहार यही तो देश-सेवा है। शां

और विश्वास का अवश्य ख़याल रहना चाहिए। और, जब तक हम अपने को इस कार्य के लिये योग्य न बना लें, तब तक हमें निश्चित न रहना चाहिए। प्रत्येक मनुष्य को अपने धर्म का ज्ञान प्राप्त करना परमावश्यक है, क्योंकि जिस प्रकार बिना मार्ग के कोई किसी निश्चित स्थान पर नही पहुँच सकता, इसी प्रकार कोई भी मनुष्य अपने जीवन में बिना ज्ञान के सफलता नहीं पा सकता, और न देश-सेवा ही का अर्थ समझ सकता है। अब तुम्हें मैं एक साधारण बात देश-सेवा के संबंध मे बताता हूँ। वह यह कि जब तक मनुष्य अपने हृदय को सब प्रकार से शुद्ध न कर ले, तब तक वह कभी इस कार्य में सफल नहीं हो सकता। चाहे वह कितना ही विद्वान् क्यों न हो। क्योंकि जब तक मनुष्य कोई कार्य नही करता, तब तक उसके विद्वत्ता, सदाचार तथा ज्ञान का परिचय नहीं मिल सकता। इसके पहले उसे अपना कर्तव्य पूरी तरह से जान लेना चाहिए। कभी इसका विचार न रखना चाहिए कि जो कार्य हम अच्छा समझते हैं वही अच्छा है, बल्कि यह कि जिसे जनता अच्छा माने वही अच्छा है, क्योंकि जब तक हम जनता का ख़याल अपने दिल में न रक्खेंगे, तब तक हम कोई भी कार्य भलाई का नहीं कर सकते। कारण, जब हम जानते हैं कि बिना जनता के कभी हम अपनी भलाई नहीं कर सकते, तो हमें

उसका ख़याल रखना अत्यंत आवश्यक है। इसलिये सर्वदा दूसरों की भलाई के साथ अपनी भी भलाई समझनी चाहिए। इसके लिये हमे स्वार्थ-त्याग जरूर करना चाहिए। और, परोपकार का ध्यान हमेशा रखना चाहिए। परंतु सब कामो के साथ अपने क्रोध को सिर से हमेशा दूर रखना चाहिए, क्योकि जब मनुष्य कोई अच्छा काम करने चलता है, तो स्वाभाविक बहुत-सी बाधाएँ पड़ने लगती हैं। कहा है—"श्रेयांसि बहुविघ्नानि।" ऐसी दशा मे लोग क्रोधवंत हो अपने सब कार्यों को मिट्टी मे मिला देते है, इसलिये उसे सर्वदा शांति और नम्रता से काम लेना चाहिए।

पिता—नर्मदा, इतनी-सी बातों के लिये तुम इतना कह गए। जरूर इसमें कोई बात होगी।

पुत्र—पिताजी, इस समय मेरी जो दशा है, मैं आपसे नहीं कह सकता। जब से बाबाजी की बातें मैंने सुनी हैं, तब से उनकी शिक्षा मेरे मस्तिष्क मे गूँजा करती है, और तब से मेरे हृदय मे इस प्रकार के उद्गार उठ रहे हैं कि मैं किसी प्रकार से वर्णन नही कर सकता।

पिता—अच्छा, इस समय तो जो हुआ सो हुआ और होना भी ऐसा ही चाहिए। तुमने बड़ी बुद्धिमानी की, जो अपने ज्येष्ठ भ्राता को कुछ भी उत्तर नहीं दिया। परंतु यह

तो बतलाओ कि इन बातों का निरूपण तुमने मुझसे क्यों नहीं किया ?

पुत्र—पिताजी, मै आपसे और अधिक डरता हूँ। इसी डर के कारण मैंने आपसे नही कहा, और इस समय भी यदि आप मुझे पहले मेरे विचारों में उत्साह न देते, तो मैं कदापि यह वृत्तांत न कहता।

पिता—मान लो कि यह बात मुझे किसी तरह से मालूम हो जाती या तुम मुझसे कह देते और मैं भी तुम्हें स्कूल जाने के लिये जोर देता, तो तुम क्या करते ?

पुत्र—मैंने तो यह पहले ही से निश्चय कर लिया था कि यदि आप लोग मुझे ऐसा न करने देंगे, तो भी मेरी कोई क्षति नहीं। मैंने तो परकाल के समान अपना लक्ष्य ठीक कर लिया था। जिधर आप लोग घुमाते मैं घूमता, परंतु अपने निशाने से कभी न चूकता। मैंने बाबाजी को वचन भी उसी दिन दे दिया था कि मैं आज ही से जो कुछ मुझसे हो सकेगा मैं अपने देशवालों के लिये करूँगा। दूसरे ही दिन से जो कुछ आप लोग मुझे देते थे उसमें से थोड़ा मैं रखता था और शेष किसी भूखे को दे देता था। मुझसे जिस प्रकार से होता, मैं दूसरों की सहायता करता था। परतु इसमें भी मेरे भ्राता मेरे पीछे लगे रहे।

पिता—वह कैसे ?

पुत्र—जब कभी मैं किसी गरीब को एक पैसा भी देता और वह देख पाते, तो पचासो धमकियाँ दिखाते। यहाँ तक कि वह जो कुछ मुझे देते थे, वह भी उन्होंने बंद कर दिया। एक दिन की बात है—शायद कोई व्रत का दिन था—कि मेरी माता ने मुझे अच्छे-अच्छे कपड़े पहनाए थे और एक बढ़िया जरी की धराऊ टोपी भी पहना दी थी। वही टोपी पहने हुए मैं मौसी के यहाँ जा रहा था। बीच गली में मैंने देखा कि बहुत-से चपरासी प्यादे एक घर को घेरे हुए हैं और बहुत-से लोग वहाँ तमाशा देख रहे हैं। यह देखकर मैं भी उस भीड़ में घुस गया, तो देखा कि एक दुबली-पतली स्त्री मैले और फटे कपड़े पहने बैठी रो रही है। उसके कई छोटे-छोटे बच्चे भी उसे घेरे बैठे हैं। उसके पति को सरकारी प्यादे पकड़े लिए जाते हैं, इस वास्ते कि उसने किसी बनिए के यहाँ से उधार खाया था और बनिए ने उस पर डिग्री जारी कराई थी। वह मर्द स्वीकार करता था कि उसका रुपया मेरे यहाँ बाकी है, मगर कहता था—"मैं क्या करूँ, इस समय हाथ एकदम खाली है।" उस बेचारे ने उस बनिए और उन प्यादों से बहुत विनती की, परंतु दोनों में से कोई भी नहीं पिघलता था। पकड़े लिए चले जाते थे। लोग जो वहाँ खड़े

।, उन्होंने भी बहुत कहा कि "लाला, जहाँ तुमने इतने दिनों
तोष किया, वहाँ दस-पाँच दिन और संतोष कर लो।" इस
र बनिया बोला—"अच्छी कही, बरसों का लेहना और रोज़
का टाल-मटोल। भगवान् जाने अभी तो खाँ साहब को
इज्ज़त उतरवाए लेता हूँ।" वह बेचारा था तो ग़रीब, परंतु
बड़ा लज्जा-शीलवाला था। बनिए ने जो इज्ज़त उतरवाने की
बात कही, तो लाल हो गया, और घर में घुस तलवार म्यान
से निकालना चाहता था कि बनिए का सिर अलग कर दे कि
उसकी स्त्री उसके पैरों में लिपट गई और रोकर कहने लगी—
"ख़ुदा के लिये क्या गज़ब (अनर्थ) करते हो? यही
तुम्हारा ग़ुस्सा है, तो पहले मुझ पर और बच्चों पर हाथ साफ़
करो, क्योंकि तुम्हारे बाद हमारा तो कहीं ठिकाना भी नहीं
है।" माता को रोती देख लड़के इस प्रकार ढार मारकर रोने
लगे कि मेरा दिल हिल गया। दौड़कर सब के सब बाप को
लिपट गए। इनको यह हालत देखकर खाँ साहब भी ठंडे
हुए और तलवार को म्यान में रख खूँटी पर लटका दिया,
और अपनी स्त्री से कहा—"अच्छा, ऐ नेकबख़्त (सौभाग्य-
वती), फिर मुझको इस बेइज्ज़ती से बचने की कोई तदबीर
बता।" स्त्री ने कहा—"बला से! जो चीज़ घर में है, उसको
देकर किसी तरह अपना पिंड छुड़ाओ। तुम किसी तरह रह

जाओ, तो फिर जैसी होगी, देखी जायगी।" तवा, चक्की, पानी पीने का कटोरा, बेक़लई की दो छोटी-छोटी पतीलियाँ बस, यही उस घर की जमा-पूँजी थी। चाँदी की दो चूड़ियाँ, लेकिन ऐसी पतली जैसे तार, उस सती के हाथों में थीं। यह सब सामग्री खाँ साहब ने बाहर लाकर उस बनिए के सामने रख दी। पहले तो बनिया देखकर कुढ़ा और हाथ ही न लगाया, परंतु जब सब लोगों ने उसे समझाया, तो वह इस बात पर राजी हुआ कि यदि यह हमें पाँच रुपया मूल और दो रुपया सूद दे दें, तो हम फारखती लिख दें। किंतु खाँ साहब की जमा चार-साढ़े चार से अधिक की नहीं थी। तब फिर घर में गए और स्त्री से कहा—"ढाई रुपए की कसर अभी और रह गई है, कहीं से इसका भी बंदोबस्त कर दो।" इस पर स्त्री ने कहा—"अब तो कोई चीज भी मेरे पास नहीं। हाँ, लड़की के कानों में चाँदी की बालियाँ हैं। देखो, जो इनको मिलाकर पूरी पड़े।" वह लड़की केवल छः वर्ष की होगी। ठीक समझिए, चुन्नी ही की अवस्था होगी। माता जो लगी बालियाँ उतारने, तो लड़की इस प्रकार से रो उठी कि मुझसे न रहा गया। मैंने दिल में कहा कि हे भगवान ! इस समय मुझसे कुछ भी न बन पड़ा कि मैं इनके काम आता। जेब में जो हाथ डाला तो एक रुपया और कोई दो आने पैसे मिले। फिर

दिल में आया कि चलें देखें, अगर टोपी बेचकर सात रुपए पूरे कर सकूँ, तो अच्छा हो। तुरत बाहर आया। बाजार तो पास ही था। सिर में चादर लपेट टोपी एक गोटेवाले को दिखाई। उसने उसका दाम छः रुपया बताया। मैंने कहा—"लाओ, जो हो वही सही। उससे छः रुपए ले और अपने पास का एक मिला, मैं वहाँ फिर दौड़कर पहुँच गया, और चुपके-से उस स्त्री के पास रख दिया। तब तक सरकारी प्यादे खाँ साहब को पकड़कर ले जा चुके थे। घर में रोना-पीटना मचा था। एकाएक हाथ में सात रुपए देख स्त्री अत्यंत हर्षित हुई और उस खुशी में यह कुछ न सोचा कि यह रुपए कैसे हैं और किसने दिए हैं। तुरत एक पड़ोसी को रुपए देकर दौड़ाया और स्वयं बच्चों-समेत द्वार पर आ खड़ी हुई। बात-की-बात में खाँ साहब छूट आए। बच्चों को कैसी खुशी कि कूदें और उछलें। कभी बाप के कंधे पर और कभी मा की गोद में और कभी एक-पर-एक। अब उस स्त्री को मेरा खयाल आया, तो बच्चों को डाँटकर कहा—"क्या ऊधम मचाए हो। दुआ दो इस (मेरी ओर इशारा करके) खुदा के बंदे को, जिसने आज हम लोगों की जानें रख लीं, नहीं तो टुकड़ा भी माँगे न मिलता। कोई चचा या मामू बैठा था, जिसे तुम्हारा दर्द होता और इस मुसीबत के वक़्त तुम्हारी दस्तगीरी करता? सिर्फ़ एक बाप के दम का सहारा। अल्लाह तंदुरुस्त रक्खे उसके

हाथ-पावों को। चलते हैं, तो मिहनत से, मजदूरी से—खुदा-शुक्र है—रूखी-सूखी रोज-के-रोज दो वक़्त, नहीं, तो ए-ही वक़्त मिले तो जाती है। हमारे लिये तो यह लड़का रहमत का फरिश्ता है। न जान, न पहचान, न रिश्ता, नाता और इस अल्लाह के बंदे ने मुट्ठी भर रुपए देकर आज सबको नए सिर से जिंदा किया।" वह बच्चे इस प्रकार कृतज्ञता की दृष्टि से मेरी ओर देखते थे कि उस समय की खुशी को अपने दिल में अब भी पाता हूँ। रुपए खर्च करने के बाद मुझे ऐसी खुशी कभी नहीं हुई, जैसी कि उस दिन हुई थी। परंतु दोनो स्त्री-पुरुष की बुद्धि में उस समय तक यह बात आई थी कि मैंने रुपए उनको दे दिए। वह समझे थे कि उधार दिए हैं। वह स्त्री मुझको अपने घर में ले गई। वहाँ टूटी-सी एक चौकी पड़ी थी। मैं उसे बहुत मना करता रहा, परंतु इसका कुछ भी खयाल न करके जल्दी से उसको अपने दुपट्टे से झाड़ उसने मुझसे बैठने के लिये आग्रह किया, और अपने पति से बोली—"शायद ही कोई तुम-जैसा बेखबर हो। खड़े क्या हो, जाओ। मनुआ को लेते जाओ और बाजार से गिलौरियाँ लगवा लाओ।"

मैं—नहीं, मैं पान नहीं खाता। आप इसके लिये कुछ फ़िक्र न करें।

खाँ साहब—हाँ, ठीक है। पान खाने से ज़बान मोटी हो जाती है। पढ़नेवालों के लिये मना है।

स्त्री—बेटा, तुम्हारी खिदमत और हमको तकलीफ। जी चाहता है कि आँखें तुम्हारे तलुओं में बिछा दूँ। क़ुर्बान इस प्यारी-प्यारी सूरत के। निसार इस भोली-भाली शक्ल के! बेटा, तुम यह बताओ कि तुम हो कौन?

मैं—मैं पं० शिवदत्तजी पांडेय का पुत्र हूँ।

स्त्री—फिर बेटा, यह रुपए तुम हमसे कब लोगे? हम अपना और बच्चों का पेट काटेंगे और तुम्हारा कर्ज़ा सबसे पहले अदा कर देंगे। मगर काम इन दिनों मंदा है। देंगे तो हम—जिस तरह बन पड़ेगा—दो ही महीने में, मगर जहाँ तुमने इतनी मेहरबानी की है, लिल्लाह इतना सुलूक और करो कि दो रुपए महीना ले लिया करो।

मैं—आप रुपए के लिये कुछ भी चिंता न करें। मैंने लेने की इच्छा से कभी नहीं दिए हैं।

यह सुनकर सब बेहद खुश हुए। देखिए पिताजी, जिस देश से और देशों का पेट भरता है, उस देश की यह दशा कि उसके बच्चे दाने-दाने के लिये तरसें! दो पैसा उधार लग जाय, तो देना मुहाल हो जाय। अब इससे बढ़कर क्या दुःख होगा?

पिता—बेटा, क्या कहें? अच्छा, आगे कहो फिर क्या हुआ?

पुत्र—उस बेचारी स्त्री के मुँह से मारे खुशी के बात नहीं निकलती थी। रह-रहके वह मुझे धन्यवाद देती और बलाएं लेती और मेरे हाथों को चूमती और आँखों से लगाती थी। इतने में मेरा डुपट्टा जो खिंच गया, तो उसने देखा कि मेरे सिर पर टोपी नहीं है। पूछा तो मुझको कहना पड़ा कि वही टोपी बेचकर मैंने रुपए दिए, फिर तो उसका यह हाल था कि बिछी जाती थी। उसने हजारों आशीर्वाद मुझे दिए, और इतनी कृतज्ञता प्रकट की कि मैं लज्जित होने लगा। मेरी यह दशा थी कि मैं धरती में गड़ा जाता था। तात्पर्य जब मैं वहाँ से विदा हुआ, तो टोपी न होने के कारण सीधा घर लौट आया। ठीक गली में भाई से भेंट हुई। उन्होंने मुझे इस दशा में देखकर पहले तो आश्चर्य किया, फिर बोले—'यह क्या, टोपी के बदले चने ले खाए?" मैंने कुछ भी उत्तर न दिया, क्योंकि इन बातों को उनसे प्रकट करना मैं नहीं चाहता था। उसी दिन सायंकाल को माताजी से और उनसे तकरार हो गई। भाई कुछ रुपए माँगते थे और मा कहती थीं कि "बेटा, इस प्रकार द्रव्य फूकने से घर कै दिन चल सकता है। परसों ही न तुमको चार रुपए दिए थे? तुमने चारों-के-चारों बराबर किए। रत्ती-भर चीज तुम घर में लाए हो, तो बता दो। इतना चटोरपन कब तक निभेगा?"

भाई०—मैं चटोरा नहीं हूँ, चटोरे हैं तुम्हारे मझले सुयोग्य सुपुत्र, जिनको तुम पंडित समझती हो कि सिर की टोपी तक बेचकर खा गए।

माता ने मुझको बुलाकर पूछा। मैंने कहा—"यदि टोपी बेचनी साबित हो जाय, तो जो चोर का दंड वही मेरा भी।"

माता—फिर क्या कहीं खो दी ?

मैं—खोई भी नहीं।

माता—भाई, तू तो न-जाने कैसा लड़का है, बेची नहीं, खोई नहीं, तो फिर टोपी हुई क्या ?

मैं—यदि आपको मुझ पर विश्वास हो, तो समझ लीजिए कि वह टोपी कहीं व्यर्थ नहीं गई है।

माता—यदि यही तुम्हारे लक्षण हैं, तो तुमने पढ़-लिखकर सब चौपट किया।

मैं उस समय बड़े पसोपेश में पड़ा। वह भेद कहना भी नहीं चाहता था और बिना कहे बनता भी नहीं था। वही मसल थी कि "भई गति साँप छछूँदर केरी।" परंतु मुझे विश्वास था कि जब मैं सच्चा हूँ और मैंने कोई अनुचित कर्म नहीं किया, तो माताजी मेरे कहने पर कभी असंतुष्ट नहीं होंगी, चाहे भाई लाख कहें। परंतु यदि मैं न कहूँगा, तो उनके दिल में अवश्य संदेह पैदा हो जायगा। तो भी क्या हुआ ? सोच

को आँच क्या ? फिर कभी कह दूँगा । ज़रा बात तो चले यही सोचकर मैं उस समय चुप हो गया । मेरा चुप होना था कि भाई शेर हो गए । लगे मुझे चिढ़ाने । अंत में मुझसे न रहा गया । मैं वहाँ से चला आया । अब उस दिन से भाई का क्या कहना ! जब मिलते, पुरानी बातें छेड़ देते हैं । पर यह बात ईश्वर को भी न भाई । एक सप्ताह भी न बीतने पाया था कि श्यामा बीमार पड़ी, तो माताजी को वहाँ जाना पड़ा मैं भी उनके साथ था । अभी माताजी पालकी से नहीं उतरी थीं कि उधर से वही खाँ साहब आ पहुँचे । मुझे देखते ही लगे आशीर्वाद देने । और, बड़े प्रेम-भाव से मुझे गले लगा मेरे घर का सब हाल-चाल पूछकर चले गए । इनकी सब बातें माताजी पर्दे के अंदर से सुन रही थीं । उन्होंने उतरते ही मुझसे पूछा कि यह कौन थे, जो अभी इस प्रकार से हिल-मिलकर बातें करते थे । यह तो कोई मुसलमान मालूम होते हैं ।

मैं—जी हाँ । यह हमारे वही भाई हैं, जो बहुत दिन पहले हमसे जुदा हो गए थे, परंतु आज फिर हमसे आ मिले हैं ।

माता—अहा हा ! तब तो बड़ा अच्छा भरत-मिलाप हुआ ! अच्छा, यह हैं कौन ?

मैं—यह एक ख़ाँ साहब हैं और इसी मुहल्ले में रहते हैं ।

माताजी मेरे इस उत्तर से संतुष्ट तो न हुईं, परतु जल्दी के मारे कुछ और अधिक न पूछ सकी और भीतर चली गईं । मैं भी समझा कि चलो जान बची । परंतु यहाँ और-का-और हुआ । घर का ताला बद ही रहा और माल गायब । ख़ाँ साहब ने ये बातें अपना घरवालो से कहीं । वह यह सुन-कर कि मेरी माता यहाँ आई हैं, उनसे मिलने को आईं । उसी जगह उसने सब बाते उनसे कह दीं । फिर जो माताजी घर आईं, तो मुझसे कहने लगीं—"मैंने तुम्हारी चोरी अत में पकड़ ही तो ली ।" मैंने हैरान होकर पूछा—"कैसी चोरी ?"

माता—पहले टोपो का हाल बता लो, तो फिर चोरी का हाल सुनो ।

इतना कहते ही मैं सब बातें ताड़ गया, और हँसकर चुप हो गया ।

पिता—नर्मदा, जितनी बातें तुमने कही हैं, उनमें साफ़ मालूम होता है कि तुमने धर्म में अपना प्रवेश कर लिया है । ईश्वर करे तुम दिन-दिन बढ़ो और धर्म-ज्ञान में चित्त लगाओ । मैं तुमको कभी ऐसे स्कूल मे न भेजूँगा और न यमुना हाँ को जाने दूँगा । मै कल ही से दूसरा विद्यालय—जैसा कि मैंने तुमसे

पहले कहा है—खोलने का उद्योग करूँगा। आशा है, मैं इसमें उत्तीर्ण हूँगा। कुछ दिनों के बाद संसार में दिखा दूँगा कि ऐसी पाठशालाओं से ही राम, अर्जुन-ऐसे वीर; महावीर, भीष्म ऐसे ब्रह्मचारी; वाल्मीकि, वशिष्ठ-ऐसे ज्ञानी; श्रवण, परशुराम-ऐसे पितृ-भक्त; व्यास, विदेह-ऐसे विद्वान; ध्रुव, बुद्ध-ऐसे तपस्वी; कर्ण-ऐसे दानी; हरिश्चंद्र-ऐसे सत्यवादी पैदा होंगे। मुझे अब लक्षण दिखाई देते हैं कि फिर भारत का भाग्य जगनेवाला है, क्योंकि जब बच्चों और स्त्रियों में ऐसे भाव आ गए हैं, तो अवश्य ऐसा ही होगा। इनकी भावी संतान का तो कुछ कहना ही नहीं : क्योंकि माता-पिता के विचार संतान के रग-रग में समाए रहते हैं। कोई उनके भाव को बदल दे, यह हो नहीं सकता। बेटा, मैं तुमसे बहुत ही प्रसन्न हूँ। तुम अवश्य कर्मवीर होगे, परंतु इसके पहले कि बाहर क़दम रक्खें, हमें घर को पक्का बनाना ज़रूरी है। जब हम अपनी ही दशा को न सुधार लेंगे, हम दूसरों को क्योंकर सुधार सकते हैं? जब तक नींव ही मज़बूत नहीं, कोठा क्योंकर उठा सकते हैं? इसलिये हमें चाहिए कि घर ही से हम अपना कार्य आरंभ करें। मैं तो तैयार हूँ, परंतु इसमें तुम्हें भी हाथ लगाना होगा।

पुत्र—पिताजी, मैं और आपको मदद दूँ?

पिता—हाँ।

पुत्र—वह कैसे ?

पिता—ऐसे। जहाँ जैसा अवसर पड़े, उसी के अनुसार काम करना। अपने कर्तव्याकर्तव्य को भले प्रकार सोच-विचार-कर निर्णय करना। और, जैसा बाबाजी ने कहा है, उसी के अनुसार तन, मन, धन से यथाशक्ति देश-सेवा में लग जाना, परंतु साथ-ही-साथ इसका खयाल रखना कि जब तक गला साफ़ नहीं रहता आवाज़ ठीक नहीं निकलती। इसलिये हमको चाहिए कि अपने जीवन को आदर्श बनावें और जो कुछ कहें पहले उसे स्वयं करके दिखा दें। समझे न ?

पुत्र—जी हाँ। जैसी आपकी आज्ञा होगी, मैं उसके करने के लिये सर्वदा कमर बाँधे खड़ा रहूँगा। आप मेरे लिये निश्चिंत रहें। जब से बाबाजी की नसीहत कानों में पड़ी है, तब से मैंने सब खेलों का परित्याग कर दिया है। जहाँ तक मुझसे हो सकेगा, मैं उठा न रक्खूँगा।

पिता—नर्मदा, तुमने आज मुझे अच्छी तरह से संतुष्ट कर दिया, जाओ अब अपना काम करो। ईश्वर पर भरोसा रखना, वह सर्वदा तुम्हारी सहायता करेंगे। मगर हाँ, एक बात और सुनो। ज़रा अपने ज्येष्ठ भ्राता को मेरे समीप भेज देना।

पुत्र—शायद आप यही बातें करेंगे ?

पिता—अवश्य।

पुत्र—परंतु मेरी राय है कि उनसे यदि ये बातें न कहें, तो अच्छा होगा।

पिता—हाँ, तुम्हारा कहना ठीक है। उनसे आशा कम पाई जाती है। परतु देखो तो क्या होता है? एक बार हम उन्हें समझा तो ले। अपना कर्तव्य हमें करना जरूरी है, सुननेवाला माने या नहीं।

पुत्र—अच्छा, मैं भेजे देता हूँ। पिताजी, नमस्कार।

नवाँ परिच्छेद

स्वतंत्र होकर मरना परतंत्र होकर जीने की अपेक्षा कहीं अच्छा है।

पिता से आशीर्वाद ले नर्मदा बाहर आया, तो देखा कि बैठक गुलजार है। यह देखकर थोड़ी देर ठहर गया। जब सब लोग चले गए और गंगाप्रसाद (शिवदत्तजी के बड़े पुत्र) अकेले रह गए, तो नर्मदा ने आकर उनसे पिता का संदेशा सुनाया। देखते ही बड़े साहब बोल उठे—"कहिए पंडितजी, कुशल तो है? आजकल तो हम लोगों पर बड़ी कृपा रहती है।"

नर्मदा—भला कभी कृपा नहीं भी थी?

इतने में यमुना भी वहीं द्वार पर दिखाई दिया। मगर इससे पहले वह अपना सिर मुड़वा चुका था, और इस खयाल से कि ऐसा न हो बड़े भाई देख लें, चाहता था कि चुपके-चुपके दबे पाँवों घर में घुस जाय; लेकिन जैसे ही बेचारे ने दरवाजे के भीतर पैर रक्खा कि गंगा ने पुकारा। यमुना तो गंगा की बोली सुनते ही काँप उठा और समझा कि सिर मुड़वाते ही ओले पड़े; मगर मझले भाई को बैठा देख कुछ सम्हल गया, और पास आकर स्वयं ही बोल उठा कि पिताजी की आज्ञा से मैंने आज सिर मुड़वा डाला।

गंगा—देखिए, पिता भी हो तो ऐसा। प्यार की भी कुछ हद है। बेचारे का ऐसा सुंदर रूप, सो लेकर बिगाड़ दिया, और वर्षों की कमाई मिट्टी में मिलवा दी। क्यों यमुना, तुम्हारा दिल तो बालों के लिये बहुत कुढ़ा होगा?

यमुना—मैं तो कभी से इस चिंता में था कि कब बालों को मुड़वा दूँ। बल्कि कदाचित् आपको याद होगा कि एक बार सिर खोलकर हज्जाम के सामने बैठ गया था आपके बिगड़ने से मैं उठ खड़ा हुआ।

गंगा—अहा! अब मुझको याद आई कि यह सब उन चारो पाजियों के बहकाने का फल है।

यमुना—आप व्यर्थ उन बेचारों को क्यों बुरा-भला क रहे हैं। वही बात तो पिताजी ने भी कही थी।

गंगा—पिताजी ने यह बात बीमारी से उठने के बाद क है या कभी पहले भी कही थी?

यमुना—जी नहीं। पहले तो कभी कुछ नहीं कही।

गंगा—फिर समझ लो कि उनकी बुद्धि मारी गई है। मैंने तो पहले ही कह दिया था कि डॉक्टर ने जो दस्त बंद होने की औषधि दी थी उसी के रुक जाने से मस्तिष्क में गरमी चढ़ गई है।

नर्मदा—यह कैसी बात आप कहते हैं। अभी तो मैं

उन्हीं के पास से चला आता हूँ। दो घंटे तक बराबर मुझ-से बातें करते रहे। मेरी समझ में तो पहले से उनके विचार अब कहीं अच्छे दिखाई पड़ते हैं।

गंगा—सुनता हूँ, आजकल पूजा-पाठ में बहुत दिल लगता है।

नर्मदा—तो क्या इसी को आप दिमाग़ की गरमी का परिणाम बताते हैं?

गंगा—क्या जब आदमी के मस्तिष्क में विकार आ जाता है, तो उसके सींग निकल आते हैं? बीमार होकर उठे थे, कोई भारी सभा करते, नाच-गाने होते, तो शहर में नाम भी होता। उठे भी तो ऊँघते हुए। कई बार तो मैंने उनको शिवाले में पूजा करते देखा। वही सारे भिक्षुक जो बम-बम किया करते हैं, इनके साथी बने हैं। और, पंडाजी के सम्मान का तो कुछ कहना ही नहीं। मुझे तो उसकी सूरत देख जी चाहता है कि वही घंटे का बेलन उसके कपार पर दे मारें। परन्तु क्या करूँ, कुछ सोचकर रह जाता हूँ। वह तो ऐसा पाजी है जिसका कुछ हिसाब ही नहीं। हिम्मत तो बचा को नहीं पड़ती कि मुझे देखे और प्रणाम न करे, परंतु इतना टर्रा कि दूर ही से नमस्कार का पत्थर खींच मारता है। न तो हाथ ही उठाता है, न सिर ही झुकाता है। यमुना, तुमको

केवल सिर ही मुड़वाने की आज्ञा मिली है या सध्या-पूजन की भी ?

यमुना—केवल इन्हीं के लिये नहीं ताकीद की है, बल्कि गुड्डी उड़ानी, शतरज, ताश इत्यादि खेलना, बुरे लडकों के सग बैठना, सौगंध खाना, व्यर्थ वकना, झूठ बोलना, किसी की पीठ-पीछे बुराई करना, इन कामों के लिये तो एकदम मना किया है।

गगा—क्यों नही तुमसे एक ही बात कह दी कि मर रहो ?

मझला भाई यह वात सुनकर टहटहा मारकर हँस पड़ा और बोला—"क्या आपके विचार में इन आज्ञाओं का पालन करना और मरना दोनो समान हैं ?"

गगा—जब तमाम खेलो से तुम्हें सबध तोड़ना पड़ा और लोगों से मिलने और बात करने से हाथ धोना पड़ा, तो तुम्ही न्याय करो कि ऐसे जीने और मरने में क्या अंतर रहा ? क्योंकि जीना तो स्वतत्र रहकर, नहीं तो मरना ही भला है।

नर्मदा—इसे तो मैं भी स्वीकार करता हूँ। मैं तो इतना कहूँगा कि स्वतंत्र होकर मरना परतंत्र होकर जीने की अपेक्षा कहीं अच्छा है। परंतु जरा विचार करके देखिए कि यदि हम ध

पालन और अनुचित कर्मों का त्याग करते हैं, तो क्या
नी स्वतंत्रता को त्याग देते हैं ? स्वतंत्रता कोई ऐसी वस्तु
है नही कि किसी के देने या न देने पर निर्भर हो। यह तो
अपने कर्तव्य-पालन से उत्पन्न होती है। सच्ची स्वतंत्रता
आत्मा की स्वतत्रता है। इस शरीर की स्वतंत्रता तो कुछ भी
। जब हम अपने कर्तव्य का पालन करते हैं, तो कोई
शक्ति हमे दबा ले, यह सभव नहीं। इसलिये मेरी
क में तो जो पिताजी कहते हैं उसी के पालन करने से
स्वतंत्रता पा सकते हैं। आप ही स्वयं विचारें तो पता
जायगा कि स्वतंत्रता खेल-कूद में है या जो पिताजी की
ा है उसके अनुसार काम करने में ? ऐसे कामों से
शुद्ध रहती है, आत्मबल बढ़ता है, चित्त प्रसन्न रहता
दय में शांति रहती है। क्या यह स्वतंत्रता के स्तंभ नहीं
और दोस्तों की जो आप बातें करते हैं, तो मैं कहूँगा कि
कोई भी सच्चा मित्र नही है। जब वह अपनी रक्षा के
कुछ प्रबंध नहीं करता, तो हमारी रक्षा वह क्या कर
ा है ? जो अपना धर्म नही जानता, उसके अनुसार ठीक
पर नहीं चलता, उस पर विश्वास करना महामूर्खता है
जूझकर कुएँ में गिरना है, बल्कि यों कहिए कि अपने
अपना नाश करना है।

गंगा—परंतु उन धूर्तों से तो लाख दर्जे अच्छे हैं। माथे में त्रिपुंड लगाए, भस्म रमाए, जटा बढ़ाए, माला फिराया करते हैं। मगर जब देखो, तो कुछ और ही हाय-हाय लगी रहती है। सीताराम के बदले सटक-सीताराम जपा करते हैं। जब देखो, तो अपने ही घात की फिक्र मे डूबे रहते है।

नर्मदा—यही तो मै भी कहता हूँ कि वह अपना धर्म नहीं पालन करते, बल्कि इस टट्टी की आड़ में शिकार किया करते हैं। उन मूर्खों को यह भी समझ नहीं कि जब वह बगला-भगत बने है, तब तो इस प्रकार स चैन के दिन कट रहे है, यदि वह सच्चे हृदय से उस परमात्मा का स्मरण करे, तो उस परम पद को प्राप्त हो, जहाँ दुःख का कही प्रवेश ही नही। इस जगत् में तो इस अवस्था मे भी सुख बाहर ही बाहर है। मैं आपसे सत्य कहता हूँ कि यदि आप उनसे पूछे, वह सच कहें तो अवश्य इस बात को स्वीकार करेंगे कि उनके हृदय में कभी शांति नही निवास करती। जब तक हृदय शुद्ध नही होता, तब तक कोई भी कार्य ठीक नहीं हो सकता। इन मित्रों के बारे में जो आपकी अच्छी राय है, तो मुझे कुछ कहना नहीं है। मैं आप ही को निर्णायक बनाता हूँ। बतलाइए, कि उनके कौन-से ऐसे काम हैं, जो सदाचार के विरुद्ध नहीं हैं। जब देखिए, तो झूठ, दगा, फिसाद, मार-पीट, गाली

इत्यादि ही में तो दिन बीतते हैं। बतलाइए, इसी को आप सदाचार कहेंगे ? यही शिक्षा है ? ऐसे ही लोग मित्र होने योग्य हैं ?

गंगा—चलो हटो, बड़े लेक्चर देनेवाले आए हो। अपना ठिकाना नहीं, दूसरे को समझाने चले हैं। जाओ, कहीं सिर घुटाकर चेला हो जाओ।

नर्मदा—होना क्या, मैं तो हुए चला आता हूँ।

गंगा—यमुना, तुम अपनी कहो।

यमुना—भाई, मैं तो इनसे भी पहले हो चुका हूँ।

गंगा—बस अब क्या कहना है। घर-का-घर ही पागल हो गया, केवल मैं ही बचा हूँ ?

नर्मदा—आप उसी दम तक बचे हैं जब तक आप पिताजी के समीप नहीं जाते।

गंगा—अजी चलो। वह तिल नहीं कि जिससे कोई तेल निकाले।

नर्मदा—परंतु जरा मिल तो आइए।

गंगा—आखिर करेंगे क्या ?

नर्मदा—समझाएँगे।

गंगा—मैं न समझूँ, तो भला क्या कोई समझाए मुझे ?

नर्मदा—वह बातें ही इस ढंग की कहते हैं कि लोहे को भी पिघला लें, पत्थर को मोम बना लें।

गंगा—तो बस मैं जा चुका।

नर्मदा—यह बात तो आपकी बिलकुल अनुचित है।

गंगा—मुझे इसका विचार नहीं, चाहे उचित हो या अनुचित। मैं तो मनमाना हूँ—जो मन में आवेगा कहूँगा और वैसा ही करूँगा। दूसरे से मतलब ?

नर्मदा—परंतु यदि पिताजी ने कोई सलाह के निमित्त बुलाया हो तो ?

गंगा—अजी ताँत बाजी, राग पाया। इसके सिवाय और कुछ नहीं।

नर्मदा—यदि उन्होंने दुबारा बुलवा भेजा ?

गंगा—तो मैं जानूँगा कि अवश्य मस्तिष्क में विकार आ गया है।

नर्मदा—भाई, जैसे वह आपके पिता वैसे मेरे। आपको अख्तियार है, जो चाहें उनके विरुद्ध कहें, परंतु मैं आपको जताए देता हूँ कि आपके यह व्यवहार अच्छे नहीं, आपके इस हठ का फल अच्छा नहीं।

गंगा—इतना मैं भी समझता हूँ, परंतु मुझे उस फल की परवाह नहीं। फल से डरनेवाले तो नादान होते हैं। यहाँ तो प्रारंभ की चिंता रहती है, अंत की तो कुछ भी फ़िक्र नहीं।

नर्मदा—किंतु इस बिगाड़ मे आप क्या लाभ देखते हैं ?

गगा—और मेरी हानि ही क्या है ?

नर्मदा—यदि और कोई हानि न भी हो, तो क्या पिताजी की असंतुष्टता बड़ी हानि नही है ?

गंगा—यदि बिना कारण के कोई असंतुष्ट हुआ करे, तो इसकी क्या दवा है ?

नर्मदा—अभी तो कोई ऐसी बात नहीं है। यदि सयोगवश वह असंतुष्ट हो गए, तो जनता उसे बेसबब नही कहेगी और इसके कारण आप ही होंगे कि उन्होने बुलाया और आप नहीं गए। भला ससार में ऐसा कौन पिता होगा जो पुत्र के ऐसे आचार-विचार पर नाराज़ न हो, पुत्र उसकी आज्ञा का उल्लंघन करे और वह असतुष्ट न हो ?

गगा—उन्हे मेरे आचार-विचार तथा सदाचार से मतलब ? मेरे व्यवहार अथवा कार्यों मे उन्हे कूदने से लाभ ?

नर्मदा—पहले तो मैं यह नही कह सकता कि वह आप-से क्या कहेगे । लेकिन माना कि वही कहें जो मुझसे और यमुना से कहा है, तो क्या उनको शिक्षा देने का अधिकार नहीं है ? क्या यह कार्य उनके कर्तव्य के विपरीत है ?

गगा—है किंतु चुन्नी पर, यमुना पर और तुम पर, जो

उनको प्रसन्न रखने और चापलूसी करने के लिये उनकी शिक्षा सुनते हैं।

नर्मदा—क्यों ? जैसे हम उनकी संतान वैसे आप।

गंगा—मैं पुत्र कभी था। अब सींग कटाकर बछड़ों में मिलना मेरे लिये उचित नहीं—लज्जा की बात है। और मैं अपने को उनकी अधीनता से अलग और उनकी प्रभुता से बरी समझता हूँ।

नर्मदा—किंतु सभ्यों का यह विचार नहीं, भले आदमियों का ऐसा दस्तूर नहीं कि औलाद बड़ी हो जाय, तो माता-पिता का आदर-सम्मान उठा दे। मैं देखता था कि पिताजी दादा का इतना मान करते थे कि पान तक भी कभी उनके सामने नहीं खाते थे। क्या आपने नहीं देखा ?

गंगा—लेकिन मैंने भी उलटकर पिताजी को कभी उत्तर नहीं दिया।

नर्मदा—परंतु आप बातें तो ऐसी ही करते हैं।

गंगा—नहीं जानते ? ताली दोनो हाथों से बजती है। यदि पिताजी मेरे व्यवहार में न रोक-टोक करें, तो मैं सौगंद खाकर कहता हूँ कि कभी उनका अनादर न करूँगा।

नर्मदा—वाह क्या कहा ! जब वह आपके कार्यों तथा व्यवहारों को अच्छा नहीं समझते, तो फिर आप क्यों

इन्हीं आचरणों द्वारा उन्हे प्रसन्न रक्खेंगे ? यह क्योंकर हो सकता है कि वह आपको डूबते देखे और बचाने का उद्योग न करे ?

गंगा—मुझे अपने डूबने की परवाह नहीं। वह केवल इतना ही करे कि मेरी बातो मे अड़चन न डाला करे। छोड़ दे, मैं जैसा चाहूँ करूँ। मैं अपनी भलाई-बुराई स्वयं समझ लूँगा।

नर्मदा—तो फिर इसका तो यही। सारांश हुआ कि आप उनसे अपना संबंध तोड़ना चाहते हैं।

गंगा—क्या ज़रूरत है कि जब मैं फिर लड़कों के समान पाठशाला मे पढ़ूँ, तभी बेटा कहलाऊँ, नहीं तो नही ?

नर्मदा—कोई आपसे पाठशाला में पढ़ने के लिये नहीं कहता, और यह भी आशा नहीं है कि पिता जी आपकी बड़ाई पर ध्यान न दें।

गंगा—जब मैं हानि-लाभ इत्यादि समझने के योग्य हो गया हूँ, तो यह कहना कि यह करो अथवा यह मत करो, मानो मुझे नादान बालक समझना है।

नर्मदा—क्या मनुष्य सर्वदा ही सम्यक् कार्य करता है ? उसकी बुद्धि कभी चूकती ही नहीं ?

गंगा—यह शंका तो उनकी सम्मति पर भी हो सकती है।

नर्मदा—तो फिर क्यों नहीं आप उन्हीं से बातें करते कि बहस हो-हुआकर कोई एक बात निश्चित हो जाय ?

गंगा—मुझे बात करने की आवश्यकता नहीं।

नर्मदा—खैर उन्हीं को सही, और जब कि आपको अपनी धारणा पर दृढ़ विश्वास है, तो फिर आप उनसे बात करने से पीछे क्यों फिरते हैं ?

गंगा—संसार में किसी भी बात का निर्णय हुआ है, जो यहाँ होगा ?

नर्मदा—हठ, पक्षपात तथा गर्व न हो, तो फिर बहस की नौबतही न आए।

गंगा—हमारे पिता को भी ज़िद पकड़ लेती है। अब पूजा-पाठ, व्रत इत्यादि का ख़याल आ गया है, तो दिन-रात इसी की धुन है। थोड़े दिन बाद देख लेना कि वही पिताजी हैं, वही हम हैं और वही खेल-तमाशे।

नर्मदा—आप चूँकि मुझसे श्रेष्ठ हैं, अधिक अनुभव रखते होंगे। किंतु मैं भी पिताजी के स्वभाव को पहचानता हूँ। वह अपने कुटुंब का सुधार अंतःकरण से चाहते हैं और जब यह बात है, तो उनकी प्रतिज्ञा का भंग होना मेरी बुद्धि में नहीं आता। आपके संबंध में उनका जो विचार हो, उसे मैं नहीं कह सकता। मगर आपके सिवाय मैं घर-भर में किसी के

नहीं देखता, जो घर मे रहे और अपने पुराने ढर्रे को न छोड़े।

गंगा—ज़रा मा से और मुझसे दो-दो बातें हो जाने दो, तो तुम्हें ठीक मालूम हो जायगा कि उनकी प्रतिज्ञा कैसी है।

यमुना—माताजी तो आज बहुत ख़फ़ा हैं।

गंगा—क्यों ?

यमुना—आपको नहीं मालूम ? बड़ी बहन से और उनसे आज बडी लड़ाई हुई है।

गगा—किस बात पर ?

यमुना—दीदी चुन्नी को लडका देकर हाथ-मुँह धोने चली गई थीं। चुन्नी ने लडके के सोने का खयाल न किया और वंदना करने लगी। लडका लगा रोने। काहे को किसी की सुनने लगा। अंत मे दीदी भी वहाँ पहुँच गई। क्रोध मे लाल होकर चुन्नी को ढकेल दिया। कहीं नाक मे कोई कील गड गई, बहुत खून निकला। इसी पर तकरार होने लगी, बहन ने कई मरतबा स्तुति इत्यादि की निंदा की। माताजी ने बार-बार मना किया, परतु न माना। आखिर माताजी ने खीचकर थप्पड़ मार ही तो दिया।

गगा—सच कहना !

नर्मदा—तो फिर क्यों नहीं आप उन्हीं से बातें करते कि बहस हो-हुआकर कोई एक बात निश्चित हो जाय ?

गंगा—मुझे बात करने की आवश्यकता नहीं।

नर्मदा—खैर उन्हीं को सही, और जब कि आपको अपनी धारणा पर दृढ़ विश्वास है, तो फिर आप उनसे बात करने से पीछे क्यों फिरते हैं ?

गंगा—ससार मे किसो भी बात का निर्णय हुआ है, जो यहाँ होगा ?

नर्मदा—हठ, पक्षपात तथा गर्व न हो, तो फिर बहस की नौबतही न आए।

गगा—हमारे पिता को भी जिद पकड़ लेती है। अब पूजा-पाठ, व्रत इत्यादि का ख़याल आ गया है, तो दिन-रात इसी की धुन है। थोड़े दिन बाद देख लेना कि वही पिताजी हैं, वही हम हैं और वही खेल-तमाशे।

नर्मदा—आप चूँकि मुझसे श्रेष्ठ हैं, अधिक अनुभव रखते होंगे। किंतु मैं भी पिताजी के स्वभाव को पहचानता हूँ। वह अपने कुटुंब का सुधार अंतःकरण से चाहते हैं और जब यह बात है, तो उनको प्रतिज्ञा का भग होना मेरी बुद्धि में नहीं आता। आपके संबध में उनका जो विचार हो, उसे मैं नहीं कह सकता। मगर आपके सिवाय मैं घर-भर में किसी को

नहीं देखता, जो घर मे रहे और अपने पुराने ढर्रे को न छोड़े।

गगा—ज़रा मा से और मुझसे दो-दो बाते हो जाने दो, तो तुम्हे ठीक मालूम हो जायगा कि उनकी प्रतिज्ञा कैसी है।

यमुना—माताजी तो आज बहुत ख़फा हैं।

गगा—क्यों ?

यमुना—आपको नही मालूम ? बड़ी बहन से और उनसे आज बड़ी लड़ाई हुई है।

गगा—किस बात पर ?

यमुना—दीदी चुन्नी को लड़का देकर हाथ-मुँह धोने चली गई थीं। चुन्नो ने लड़के के सोने का ख़याल न किया और वदना करने लगी। लडका लगा रोने। काहे को किसी की सुनने लगा। अंत मे दीदी भी वहाँ पहुँच गईं। क्रोध मे लाल होकर चुन्नो को ढकेल दिया। कही नाक मे कोई कील गड़ गई, बहुत ख़ून निकला। इसी पर तकरार होने लगी, बहन ने कई मरतबा स्तुति इत्यादि की निंदा की। माताजी ने बार-बार मना किया, परतु न माना। आख़िर माताजी ने खींचकर थप्पड मार ही तो दिया।

गगा—सच कहना !

यमुना—आप स्वयं चलकर देख लीजिए। बहन कोठरी मे पड़ी रो रही हैं। सुबह से भोजन भी नहीं किया।

नर्मदा—ठीक! कुछ बात ऐसी ही है। मैं जो पिताजी के पास गया, तो आते-जाते सबको चुप देखा। समझ गया, इसका कोई कारण अवश्य है। मगर अब तो बात मालूम ही हो गई।

गङ्गा—कहीं घर-भर ने मतवाली कोदो तो नहीं खा ली है? अभी से विरोध फैल गया? चुन्नी की स्तुति करनी देखो और एक छोटो-सी बात के लिये बेचारी मुर्गी के मार खाने पर खयाल करो।

नर्मदा—मेरे नजदीक तो इनमें से कोई भी बात आश्चर्य को नही मालूम होती। चुन्नी ने यदि स्तुति सीख रक्खी है, तो कौन-सा बड़ा काम किया? बातें तो बड़ी-बूढ़ियों की-सी करती है।

गङ्गा—तो क्या जरूरी है कि बातें बड़ी-बूढ़ियों की-सी करे, स्तुति इत्यादि भी बड़ी-बूढ़ियों की-सी करे? उसकी अवस्था तो अभी गुड़िया खेलने को है, न कि बैठकर माला फेरने को।

नर्मदा—क्या स्तुति याद करना या उनको प्रातःकाल में गाना, ऐसी कठिन बात है कि चुन्नी उसको नहीं समझ सकती?

गंगा—यदि मार-मारकर समझाया जाय, तो वह सांख्य-शास्त्र को भी कह दे कि हाँ मैं समझ गई।

नर्मदा—किंतु उसको मार तो नहीं पड़ती।

गंगा—एक को पीट दिया तो मानो सभी को पीटा। जब सुर्जी ही को मा ने थप्पड़ खींच मारा, तो अब किसकी मर्यादा रह गई। बड़ी बेटी, ब्याही हुई, पुत्रवती को मारना, क्या यह सभ्यता के अनुकूल है? क्या यही धर्म की शिक्षा का परिणाम है? यदि है, तो मैं ऐसे धर्म को हृदय से धिक्कारता हूँ। दंडवत् है ऐसे धर्म को जिससे मनुष्य अपने आपे से बाहर हो जाय और सांसारिक भलाई-बुराई पर कुछ भी ध्यान न दे। आखिर यह संभव नहीं कि यह खबर उसकी सुसराल न पहुँचे। भला समधियानेवाले क्या कहेंगे? यदि शर्म हो, तो सारा घर चुल्लू-भर पानी में डूब मरो। लज्जा हो, तो किसी को मुँह न दिखाओ। इसी पर तुम मुझे पिताजी के यहाँ जाने की राय देते हो? यदि कहो मुझ पर भी दया का हाथ फेर दिया, तो क्या तुम समझते हो, मैं पुतले की तरह चुप हो जाऊँगा? मुझे तो सुर्जी के बचने की भी आशा नहीं। सुन लीजियो कि आज अगर है, तो कल नहीं।

नर्मदा—इस बात का मुझको भी आश्चर्य है। किंतु

जब तक माताजी से आदि से अंत तक पूरा वृत्तांत न सुन लूँ, मैं नहीं कह सकता कि उन्होंने अच्छा किया या बुरा।

गंगा—यदि यही बात तुम्हारे साथ हुई होती और तब तुम अच्छे और बुरे के लिये शंका करते, तो मैं तुम्हें आज्ञाकारी और पितृ-भक्त संतान मानता। जिस पर बीतती है, वही जानता है। "बाँझ कि जानि प्रसव की पीरा।"

नर्मदा—शायद ऐसे समय दिल बदल जाय, तो खबर नहीं, नहीं तो मैं पिता-माता की शिक्षा या ऐसी मार के लिये कभी ज़बान भी न हिलाता।

गंगा—शायद ऐसी ही बातों ने उन्हें दिलेर बना दिया है?

नर्मदा—जिसको ईश्वर मा या बाप बनाता है, उसको इतनी बात समझने की बुद्धि भी देता है कि संतान पर उसको कैसे-कैसे अधिकार प्राप्त हैं।

गंगा—सारांश यह कि तुम्हारे नज़दीक माता-पिता को अधिकार है कि संतान चाहे बड़ी भी हो जाय, तो भी उसे नादान बच्चों की तरह मारा करें। इसमें उनका कुछ भी दोष नहीं। क्यों यही न?

नर्मदा—मुझे इसकी आवश्यकता नहीं कि मैं सबके लिये इसे निर्णय कर दूँ, परंतु अपने घर के इस मामले में

इतना कह सकता हूँ कि माता ने विवश ही होकर बहन पर हाथ उठाया होगा। थोड़ी देर के लिये मान लें कि इसमे माताजी की ही ज्यादती थी, तो क्या एक तमाचे के मारने से उनको उम्र-भर की सेवा और इतने दिनो का स्नेह मिट्टी में मिल जायगा ? हमारा तो कर्तव्य है कि यदि सर्वदा की भलाई करनेवाला कभी कुछ कोप भी करे, तो हमे इसके बदले उसी से क्षमा माँगनी चाहिए। अब भी जो प्रेम बहन का माताजी को होगा, हमें या आपको कदापि न होगा।

गगा—चाहे जो कुछ हो, मगर यहाँ तो निराला ही ढग है।

भाई-भाई यही बाते कर रहे थे कि कुस्मी नामक दाई दौड़ी आई और नर्मदा से कहा, पडितजी पूछते हैं कि मेरी बात का उत्तर हाँ या नही, तुमने कुछ भी नहीं दिया ! कुस्मी को तो नर्मदा ने यों कहकर टाल दिया कि तू चलकर कह के अभी आते हैं, और बड़े भाई से कहा—पिताजी आपके आसरे बैठे है। जाइए, खड़े-खड़े हो आइए।

गगा—यदि मुझे इस पर विश्वास होता कि मेरा जाना और चला आना एक साधारण बात है, तो मैं अब तक जाकर कभी का चला न आया होता ?

नर्मदा—आपने यह क्योंकर समझ लिया कि यह साधारण बात नहीं है ?

गंगा—ईश्वर को देखा नहीं, तो बुद्धि से पहिचाना।

नर्मदा—बस शायद पिताजी को इतनी ही बात आपके मुँह से सुनने की इच्छा है ?

गंगा—परन्तु हर बात के कहने का एक खास मौका होता है।

नर्मदा—मुझको आश्चर्य है कि आपको आपत्ति किस बात की है !

गंगा—मैं उनके स्वभाव से अच्छी तरह परिचित हूँ, जहाँ कोठे की सीढ़ियों पर पैर रक्खा कि कोप की धन्नी मेरे ऊपर टूट पड़ेगी। दूसरे यह कि अपनी आदत से लाचार हूँ।

नर्मदा—मैं आपसे अधिक विवाद करना उचित नहीं समझता। आपको अधिकार है, चाहे जो करें। किन्तु इतना फिर कहे देता हूँ कि आपके इस व्यवहार का फल अच्छा नहीं।

गंगा—चाहे जो हो, जब रण में पैर रक्खा, तो तीर का क्या डर ?

नर्मदा—तो फिर मैं भी पिताजी से कहला भेजता हूँ।

गंगा—तुमको अधिकार है। जब मैं उनके बुलाने में

जाना जरूरी नहीं समझता, तो उनके पूछने से जवाब देने को कब जरूरी जानता हूँ ।

नर्मदा निराश होकर उठा और थोड़ी दूर जाकर फिर लौट आया और कहने लगा—"मेरे पाँव आगे नहीं पड़ते और कुछ समझ मे नहीं आता कि कहूँ तो क्या कहूँ । यह मैं खूब जानता हूँ कि आपके न जाने से बड़ा उपद्रव मचेगा । नहीं मालूम इस समय आपको क्या हो गया है ? यदि आप जाते और उनकी बातों को न मानते, तो इसमे इतनी बड़ी आपत्ति न होती । लेकिन न जाने मे विगाड, झगड़ा और आज्ञा उल्लघन के दोषी आप ही होंगे । सारा संसार आपको बुरा कहेगा और चूँकि इसका नतीजा मैं आपके हक मे बुरा देखता हूँ, इसलिये मैं नही चाहता कि इसमे मेरा भी लगाव हो । इससे अच्छा होता, यदि यह उत्तर किसी और के द्वारा आप भेजवा देते ।"

गगा—परंतु जब उन्होंने मुझसे कुछ नही पूछा, तो मैं क्यों कहला भेजूँ ?

नर्मदा ऐसा रूखा जवाब सुनकर फिर चला । बेचारा ऐसी दुविधा में पड़ गया था कि कोई निकलने की राह ही न थी । यही सोचता था कि "इधर जब पिताजी ने यह कार्य मुझे सौंपा है, तो हाँ या नहीं, कुछ-न-कुछ तो उत्तर उनके पास पहुँचना

हो चाहिए।" और चूँकि समझ चुका था कि भाई का न जाना एक बड़े उपद्रव का कारण होगा, भीतर से उ... नहीं मानता था कि उसकी बरबादी की बात मुँह से निकाले, इसी घबराहट में दौड़ा हुआ मा के पास गया और हाँफता हुआ बोल उठा—"मा-मा, अंधेर हुआ चाहता है।"

इंदुमती बेचारी मुर्झी के सोच में बैठी थी, क्योंकि कोठरी में धर्ती पर पड़ी-पड़ी मुर्झी को सारा दिन बीत गया। न तो उसने सिर उठाया, न कोई चीज उसके मुँह में गई। एक बूँद पानी तो पिया ही नहीं, भोजन तो अलग रहा। लड़के का यह हाल था कि घड़ी-दो-घड़ी तो चुप रहा। फिर उसने अलग रोना शुरू किया। सारा घर उसको सम्हालता था, मगर उसने तालू से जबान न लगाई। बहुतेरा नानी बहला फुसला कर दूध देती, मगर गोद में से निकल-निकल पड़ता था। न उठे सुख, न बैठे चैन। सबको हैरान कर मारा। दिन तो खैर भली-बुरी तरह समाप्त भी हुआ, अब रात आई, तो मानो आपत्तियों की घटाएँ चारों ओर से उमड़ आईं। श्यामा को ... बुलवाया था, तो उत्तर आया कि आज सायंकाल को घर में श्रीसत्यदेवजी की कथा है, इसलिये यदि हो सका, तो कल आऊँगी।

इसी घबराहट और परेशानी में नर्मदा ने जो एकदम ...

जाकर इस प्रकार कहा कि "अंधेर हुआ चाहता है", तो इंदुमती का कलेजा धक् से हो गया और समझी कि सुर्जी का कोई बुरा हाल लेकर आया है। घबराकर उसने पूछा—"क्या ?"

नर्मदा—भाई को पिताजी दो घड़ी दिन रहे से बुला रहे हैं। यह समय हो गया, नहीं जाते। मेरी राय है कि तुम चलकर उन्हें समझा दो, शायद मान जायँ। मै तो कहकर थक गया।

इदुमती का हाल सुर्जी से भी बुरा हो रहा था। नाममात्र को भोजन करने बैठी थो। एक दाना भी मुँह मे न डाला। जैसी बैठी थी, वैसी ही मुँह जुठलाकर उठ खड़ी हुई। बार-बार किसी-न किसी बहाने से कोठरी के किवाड़ो के पास जाकर झाँकती और सुर्जी के रोने की आहट लेती। घरवालो मे से जो सामने आ निकलता, उसको भेजती कि जाओ, हो सके, तो मनाओ। लेकिन किसी का ऐसा कलेजा पुष्ट न था कि कोठरी के भीतर पैर रखता। गुल्बी, जिसने सुर्जी को पाला था और हर प्रकार का अधिकार रखती थी, लड़के को लेकर दूध पिलवाने के बहाने से पास जाकर बैठी। अभी मुँह से बात भी नहीं करने पाई थी कि सुर्जी ने एक ऐसी दुलत्ती चलाई कि गुल्बी कई लुढ़कुनियाँ खाकर

गेंद के समान लुढ़कती-लड़खड़ाती बाहर आकर गिरी। ईश्वर ने इतनी कृपा की कि लड़का गद्दी समेत गोद से निकल पड़ा, नहीं तो इतनी दूर में न-मालूम क्या-से-क्या हो जाता। गुल्बी का हाल देखकर किसी की भी हिम्मत न पड़ती कि उसके निकट जाय। इंदुमती जिससे प्रार्थना करती, उसकी नानी ही मर जाती। चाहते सब थे कि सुर्जी को समझावें, परंतु जाने से ऐसा डरते थे, मानो भीतर काली नागिन बैठी है। पाँव रक्खा और उसने डस लिया।

बाहर उस छुटकी बच्चे ने आफत मचा रक्खी थी। लाख फुसलाते, मगर वह किसकी सुनता है? सिकड़ियाँ खटखटाओ, गोद में लेटाओ, झूले में सुलाओ, कंधे लगाओ, ले-ले फिरो, परंतु किसी तरह उसको चैन ही नहीं। बेज़बान बच्चा मुँह से बोलता नहीं, चालता नहीं, बराबर रोए जाता है, कोई क्या जाने कि उसको किस बात की तकलीफ है। पहले तो यह खयाल हुआ कि हँसुली जाती रही। उसे मलवाया, मगर कहाँ कुछ नहीं। समझे कि पेट में दर्द है; दूध में सोहागा घिसकर दिया, फिर भी न चुप हुआ। अंत में जब थक गया, तो हार मानकर दो घड़ी दिन रहे, नानी के कंधे लगकर सो रहा।

इसी दुःख में बेचारी खंभे से लगी हुई थी कि पहले श्यामा का उत्तर मिला। उसके पश्चात् नर्मदा ने आकर

यह संदेशा सुनाया। अब जो कुछ बुद्धि बाकी थी, वह भी चपत हो गई।

थोड़ी देर तक तो चुपचाप सन्नाटे मे बैठी रही। इसके बाद अपने आपे में आई, तो नर्मदा से कहा—"फिर बेटा तुमने बड़े भाई को कुछ समझाया नहीं ?"

नर्मदा—मैंने कितना-कितना समझाया, मगर इसका उन पर कुछ भी असर न पड़ा।

इंदु०—सुर्जी का हाल कुछ तुमने सुना ?

नर्मदा—जी हाँ सुना।

इंदु०—बस ईश्वर ने दोनो को एक ही साँचे मे ढाला है। मुझे तो आशा नहीं कि गंगा सुधरे। जब उसको ईश्वर का भय और पिता का डर न हुआ, तो भला मै क्या हूँ ? यों तुम कहते हो चलो, अपनी तरफ से बहुतेरा कह दूँगी। क्यों नर्मदा, तुम्हारी समझ मे मेरी ज्यादती थी या सुर्जी की ?

नर्मदा—मैंने पूर्ण वृत्तांत तो सुना नहीं; लेकिन जितना सुना है, उससे सरासर बहन का दोष मालूम होता है। मुझको इसमे अधिक जाँच करने की आवश्यकता भी नहीं। मैंने सुनते ही कह दिया था कि मा ने जब ऐसी कोई सख्त जरूरत देखी होगी, तभी बहन पर हाथ उठाया होगा।

इंदु०—नर्मदा, मैं क्या कहूँ। जो कुछ उसने ईश्वर के विरुद्ध कहा, बहुत कहा। मुझे इतना सामर्थ्य नहीं कि मैं उनको बयान करूँ। मैं तो उसकी बातें सुनकर थर्रा उठी कि कहीं ऐसा न हो कि छत टूट पड़े। हज़ार मना किया, मगर सुनती ही न थी। अंत में क्रोध आ गया और इसी क्रोध में मैंने एक थप्पड़ जमा दिया।

नर्मदा—ठीक है। तुमने मारा तो अच्छा किया; क्योंकि ऐसों को यही दवा है। ख़ैर, तुम्हारी तो कुछ चिंता नहीं, क्रोध आप ही शांत हो जायगा। बड़े भाई का बड़ा खटका है। यहाँ कल तक वारा-न्यारा होता हुआ मालूम होता है।

इंदु०—दोनों बराबर ही हैं। न सूप सराहने के योग्य है, न चलनी निंदा के लायक़। इस सुर्जी ने क्या वारा-न्यारा करने में कुछ उठा रक्खा है? सारा दिन बीत गया, न कुछ पानी पिया, न दाना खाया, न बच्चे को दूध ही पिलाया।

नर्मदा—बच्चे को दूध नहीं पिलाया? भला उस बेचारे का इसमें क्या दोष है?

इंदु०—गुल्ची एक दफ़ा लेकर गई थी। बेचारी को ऐसी लात मारी कि देखो सारे बदन में हल्दी थोपे पड़ी है, आह-आह! चिल्ला रही है।

नर्मदा—मैं चलूँ और समझाऊँ?

इंदु०—ना बेटा, अपनी मर्यादा अपने हाथ। तुम गए, और छोटे तो हो ही, कुछ जा-बेजा कह बैठी, तो व्यर्थ तुमको बुरा लगेगा। इससे क्या लाभ होगा ?

नर्मदा—जब वह मुझसे बड़ी हैं, तब मुझे उनका कहना बुरा क्यों लगने लगा ?

इंदु०—तो भी तुम्हारे जाने से कुछ फायदा नहीं। मैंने श्यामा को बुलवा भेजा है। वह आएगी, तो उसको अपनी तौर पर ठीक-ठाक कर लेगी।

नर्मदा—सचमुच, यह तुमने खूब सोचा है। मगर अब रात हो गई, कब आएगी ?

इंदु०—उनके यहाँ इस समय कथा है। इस सबब से उसने कहला भेजा है कि कल बड़े सबेरे पहुँचूँगी। खैर, ज्यों-त्यों रात कट हो जायगी।

नर्मदा—मैं जाकर श्यामा को बुला लाता हूँ। कथा भी अब समाप्त हो चुकी होगी। तब तक तुम भाई से बातें करो।

इंदु०—हाँ, अच्छा तो होगा। मैंने उसको यह हाल कहला नहीं भेजा, नहीं तो वह सुनते ही दौड़ी आती।

दसवाँ परिच्छेद

'हाय ! हम क्या हैं, क्या हो गए क्या-क्या होकर'

इतना होने के बाद नर्मदा तो श्यामा को लेने चला गया। और इंदुमती गंगा के बैठके में पहुँची। इतनी ही देर में वहाँ ताश शुरू हो गया था। इंदुमती जो पहुँची, तो चाँदनी पर ताश के पत्ते बिखरे हुए पड़े थे। इंदुमती ने देखकर
लगे इस खेल को। खेल न हुआ, जान का घात
को भी बंद नहीं होता।"

गंगा—निकम्मा बैठा हुआ आदमी

इंदु०—बेटा, ईश्वर न करे, तुम नि
तो काम बहुतेरे पड़े हैं। तुम्हारे पिता ने
निकम्मे तो थे, पर तुमसे इतना न हो स
आऊँ ? क्या कहते हैं ?

गंगा—बस मैंने यहीं से बैठे-बैठे सुन

इंदु०—कुछ न सुना, न सुनाया। जाओ
अच्छा नहीं।

गंगा—कैसा हठ और किसका हठ ? मैं न
वह करेंगे।

इंदु०—तुम जानते हो सही, परंतु जाकर सुन लेने में बेटा कुछ आपत्ति नहीं।

गंगा—आपत्ति? आपत्ति तो यह है कि

इंदु०—ज़रा मैं भी सुनूँ।

गंगा—अब मुझी से कहलवाती हो? तुम आप ही समझ जाओ।

इंदु०—मैं तो तुम्हारी पहेली नहीं समझती।

गंगा—ऐसी पहेलियाँ सुर्जी खूब बूझती है।

इंदु०—परमात्मा किसी को ऐसी उलटी समझ न दे, जैसी सुर्जी की है। तुम उसकी बोली सुनते, तो क्या कहते। ईश्वर तक को न छोड़ा, पूजा-पाठ को ढकोसला बताती है। ऐसे शब्द तो नास्तिक भी मुँह से नहीं निकालता। अभी एक आफत घर पर आ चुकी है। एक छोड़ तीन-तीन शव इस घर से उठे, किंतु जरा भी डर नहीं।

गंगा—बीमारी भी क्या ऐसी-वैसी थी? अच्छे-बुरे सभी किस्म के लोग मरे।

इंदु०—तो क्या अच्छे को मरता देखकर आदमी बुरा बन जाय।

गंगा—नहीं, मैं तो यह नहीं कहता कि बुरा होना अच्छा है।

इंदु०—इससे बढ़कर और क्या बुराई होगी कि आ
परमात्मा को परमात्मा न समझे।

गंगा—अच्छी कही। कौन परमात्मा को परमात्मा
समझता? सुर्जी के मुँह से नहीं मालूम क्योंकर यह
निकल गई।

इंदु०—फिर तुमको पिता के पास जाने में क्या चिंता है

गंगा—मैंने सुना है कि वह संध्या-पूजा इत्यादि के
प्रतिज्ञा कराते हैं और खेल-कूद को मना करते हैं।

इंदु०—अभी तो तुमने कहा कि मैं परमात्मा को परम
समझता हूँ। तो क्या पूजन करना उसकी आज्ञा
प्रतिकूल है?

गंगा—मैं यह तो नहीं कहता कि ऐसा करना उ
आज्ञा के विरुद्ध है। मैं तो स्वीकार करता हूँ कि यह उ
अनुकूल है, परंतु इसका पालन मुझसे नहीं हो सकता।

इंदु०—तो तुमने यह व्यर्थ कहा कि मैं ईश्वर को ई
मानता हूँ। यदि तुम सचमुच ऐसा करते, तो अवश्य उ
हुक्म मानते। चलो बेटा, लोक-परलोक दोनों से निश्चिंत हो
इधर बाप बुलाए, और न जाओ, तो मानो पिता को पि
समझा। उधर ईश्वर आज्ञा दे और उसका पालन न क
तो मानो ईश्वर को ईश्वर न जाना।

गंगा—मुझे यह देखकर बड़ा अचंभा होता है कि घर में क्यों इन नए-नए नियमों और प्रथाओं का प्रचार होता है। वही ईश्वर है और वही हम सब हैं। तो जिस प्रकार पहले से रहते-सहते चले आए हैं, अब भी रहने दो। दूसरे के कर्मों पर क्या बहस ? और किसी की नेकी-बदी से क्या सरोकार ? यदि कोई अधर्मी है, तो अपने लिये, और कोई साधु है, तो अपने वास्ते।

इंदु०—सरोकार क्यों नहीं ? संतान की शिक्षा का पूरा भार माता-पिता पर है।

गंगा—पहले ही से यह भार था या अब हाल में बीमारी के बाद से सौंपा गया है ?

इंदु०—यदि तुम इस नीचता के साथ पिता का अपमान करते हो, तो यह तुम्हारे सदाचार और शील का प्रमाण है। तुम तो पुस्तकें पढ़ते हो। माता-पिता के प्रति पुत्र का क्या कर्तव्य है, कहीं उनमें देखा है ? क्या पढ़-लिखकर यही सीखा कि पिता बुलाए तो न जाना, कुछ शिक्षा दे तो न सुनना ?

गंगा—तुम जानती नहीं हो, उनकी बुद्धि खराब हो गई है। बीमारी के बाद उनके दिमाग में गरमी आ गई है।

इंदु०—यदि तुम उनके पास तक गए होते, तो कभी ऐसी शंका तुम्हारे दिल में न पैदा होती। तुम शुरू ही से उन्हें सनकी और पागल बताते हो। क्या पागलों का यही काम है कि धर्म

को बातें बतावें और परलोक के दिन की शिक्षा दें? क्या सनको ऐसे ही होते हैं कि बिगड़ों के बनाने का उद्योग करें, नरक के जानेवालों को स्वर्ग का मार्ग बतावें? एक बार ज़रा चलकर उनकी बातें तो सुन लो, फिर तुम उनको सनकी अथवा पागल, जो चाहे कहते रहना।

गंगा—क्या मैं भी यमुना हूँ, जो उनकी बातों में आ जाऊँगा?

इंदु०—हमारी दृष्टि में तो तुम यमुना के बराबर क्या, उससे भी छोटे हो।

गंगा—बस रहने दो, यह कृपा मुझी ही पर करना।

इंदु०—यदि कृपा-ही-कृपा होती, तो शायद तुमको उसके कहने की नौबत भी न आती। क्योंकि कृपा उन्हीं के साथ की जाती है, जो उसका सन्मान करें और कृपा करनेवाले का कृतज्ञ हो। मजबूरी तो यही है कि केवल मेहरबानी नहीं, बल्कि अपनी गरदन का बोझ और अपने सिर का भार उतारना है।

गंगा—यह नया मसला है कि बूढ़े तोतों को मार-मारकर पढ़ाया जाय।

इंदु०—तुम? अपने को बुड्ढा समझते हो?

गंगा—मैं दूध पीता हुआ अबोध बालक ही सही, लेकिन मैं

नहीं चाहता कि कोई मेरे कामों मे गलती पकड़े। मैं अपना बुरा-भला आप समझता हूँ।

इंदु०—माता-पिता भी संतान के द्रोही नहीं होते। हम लोग भी तुम्हारी ही भलाई के लिये अनुरोध कर रहे हैं।

गंगा—मुझे अपनी भलाई पसंद नहीं।

इंदु०—मैं जानती हूँ कि यह बातें तुम इस समय हठ से कर रहे हो। भला दुनिया मे कोई भी ऐसा है, जो अपनी भलाई नहीं चाहता।

गंगा—जब मैं अपनी उन्नति मे तुम्हारी सहायता नहीं चाहता, तो तुम 'मान न मान मैं तेरा मेहमान' क्यों बनती हो? कोई मुझ बैठे-बिठाए को क्यों छेड़े?

इंदु०—मैं तुम्हारी माता, वह तुम्हारे पिता।

गंगा—यह भी अच्छी जबरदस्ती है! मुझको तुम्हारे मा-बाप होने से इनकार नहीं। प्रश्न तो केवल यही है कि तुम्हें मेरे कामों मे कूदने का अधिकार है या नहीं? सो मैं समझता हूँ कि नहीं है। तुम कहती हो कि हम विवश होकर इनमें पड़ते हैं, कारण कि संतान को शिक्षा देना हमारा कर्तव्य है। सो पहले तो हम इसे शिक्षा कह ही नहीं सकते। यदि मान लिया जाय कि किसी तरह हो भी, तो मेरे नजदीक केवल दस-बारह वर्ष की अवस्था तक संतान की शिक्षा उचित है; कारण,

उस समय तक उसे किसी बात के समझने की योग्यता प्राप्त नही रहती। इसके पश्चात् माता-पिता को कोई भी अधिकार नहीं कि उनकी बातों मे पडा करें। वह अपनी भलाई-बुराई स्वय समझ सकते हैं। यदि यही इच्छा थी कि मैं बडा धर्मात्मा बनूँ, तो पहले ही से क्यों नही शिक्षा दी? कुछ नही तो आज चारो धाम तो कर आता, जिससे चारो ओर मेरी प्रशसा होती। यह क्या किया कि मुझे स्कूल मे पढ़ा-पढ़ाकर इम्तहान दिला-दिलाकर हज़ारो रुपए बरबाद कर दिए। दूसरे यह कि ससार मे जैसे और उच्च वंश के लडके है, यदि मैं सबमे अच्छा नहीं, तो किसी से बुरा भी नहीं हूँ। कविता के मैदान मे सेहरा मेरे ही सिर रहता है। जितने मेरे साथी हैं, सबसे मैंने नबर अधिक पाए हैं। सितार मै जानूँ, वीणा मे मै प्रवीण हूँ, बाँसुरी मुझे आती है। तबला, मृदग आदि मैं जानता हूँ, हरमोनियम मे मास्टर ही ठहरा। गान-विद्या का कुछ कहना ही नहीं, यह तो प्रसिद्ध बात है। पटा-बनेठी में उस्ताद ठहरा, कुश्ती मे मेरे जोड का कोई नही; कसरत इत्यादि लोग मुझसे सीखते हैं; पंजा, कलाई ऐसी कि सब डरा करते हैं, कोई हाथ भी नही मिलाता; शतरज मे लँगड़ तिवारी तो खैर पुराने खिलाड़ी ठहरे और वास्तव मे शतरज खेलते भी खूब है, दूसरा कोई मुझे मात कर दे, तो अलबत्ता मैं उसको टांग के तले से निकल जाऊँ। हमारे मुहल्ले में मियाँ वज़ीर

बादशाही प्यादों के जमादार बड़े शतरंज खेलनेवालों में प्रसिद्ध हैं। मैं वज़ीर उठाकर उनके साथ खेलता हूँ। गजीफा यद्यपि मैं कम खेलता हूँ तथापि मैं बैठ जाऊँ, तो ऐसा कभी नहीं कि कोई सफ़ों पर नादिरी चढ़ा ले। और क़रीब-क़रीब यही हाल ताश में भी है। चौसर को तो हम कुछ समझते ही नहीं। कबूतर जैसे आज हमारी छतरी के दुमदार हैं, शहर में शायद दो ही चार जगह और हों। पतंग मैं ऐसा उड़ाता हूँ कि एक अधेले से दो ठड्डे की तुक्कल एक नहीं, तो सैकड़ों काटी होंगी। लिखने से मैं हटता नहीं; पढ़ने से मैं हिचकता नहीं। मैं नहीं जानता कि अमीरों और उनके लड़कों में वह कौन-सा गुण है जो मुझमें नहीं है—

क़िस्मत से तो लाचार हूँ ऐ ज़ौक़, वगर ना?
सब फ़न में हूँ मैं ताक़ मुझे क्या नहीं आता?

अभी कल ही की बात है कि उपाध्यायजी के यहाँ लोग मेरी कविता की प्रशंसा कर रहे थे और यही बात चली थी कि मुझे वहाँ की कमेटी की ओर से कवि-विभूषण की उपाधि दी जाय। अब एकाएक मैं ऐसा हो गया कि मुझे सीखने और शिक्षा ग्रहण करने की आवश्यकता पड़ी है? "हाय हम क्या हैं, क्या हो गए, क्या-क्या होकर?" मेरा कौन-सा कर्म है जो तुम्हें अथवा पिताजी को मालूम नहीं? क्या पिताजी

ने मेरी कविता नहीं सुनी। मैं उनके हाथ की शोधी हुई कई कविताएँ दिखा सकता हूँ। अभी पूरा एक महीना भी नहीं बीता है कि शतरंज का एक बड़ा कठिन चित्र पिताजी ने किसी समाचार-पत्र मे देखा था। उसको मैने हल किया। कबूतर उड़ते तुमने नही देखे ? या पतगों की लडाई उन्होने नहीं सुनी ? कभी तुमने रोका या उन्होने टोका ? अब यह नई बात अलबत्ता सुनने मे आती है कि सध्या करो, पूजा करो, मदिर में दर्शनार्थ जाया करो, धर्मात्मा बनो, खेलो मत, मित्रों से मिलो मत, बाज़ार मत घूमो, मेले-तमाशे मे न जाओ। भला मुझसे इनमें से कोई भी बात होनेवाली है ?

इदु०—मैं सच कहता हूँ कि जितनी बाते तुमने कहीं, तुम्हारे पिता, जिनको तुम पागल और सनको समझते हो, सब पहले ही से समझे हुए बैठे हैं। उनको मालूम है कि इन आदतो का छूटना कठिन है। प्रारभ में तुम्हे शिक्षा न देने को बाते सोच-सोचकर बड़ा अफसोस करते हैं और इस प्रकार रोते हैं कि देखनेवाला थम नहीं सकता। अंधेर तो यही है कि तुम वहाँ तक चलते नही, नहीं तो तुमको मालूम हो जाता कि तुम्हारे पिता के दिल की क्या हालत है। वह स्वयं इस बात को स्वीकार करते हैं कि इसमें औलाद का कुछ भी दोष नहीं। जो कुछ है, वह हमारा। हमारे

न देखने ही से आज यह बरबादी हुई है। अपने को वह कोसते हैं और कहते हैं कि "मैं इनका पिता था या शत्रु, जो मैंने जान-बूझकर इनका सत्यानाश किया ? अपनी आँखों के सामने इनको बरबाद किया। अब किस मुँह से इनको समझाऊँ ? और क्योंकर इनसे आँखें मिलाऊँ ?" मगर फिर आप ही यह भी कहते हैं कि "यदि मैंने अपने कर्तव्य-पालन में कोताही की, तो उसका पश्चात्ताप न करना क्या उस पाप से कम है ? लाचार, जहाँ तक हो सकेगा, कोशिश करूँगा। सिर लड़ाऊँगा। कुछ-न-कुछ इसका फल तो अवश्य ही होगा।"

गंगा—ख़ैर, ऐसी ही कर्तव्य की धुन सवार है, तो दूसरे बच्चों को अपने मतानुसार शिक्षा दें। मुझको मेरे हाल पर छोड़ दें।

इंदु०—क्या तुम उनकी संतान नहीं हो ?

गंगा—हूँ, लेकिन मुझसे भी आख़िर कह न चुके। बस, उनके सिर से यह भार दूर हो गया।

इंदु०—यही हुज्जत दूसरे भी कर सकते हैं।

गंगा—झक मारने की बात है। छोटों को मानना चाहिए।

इंदु०—क्या छोटे सदा छोटे रहेंगे ?

गंगा—बड़े होने पर उनको भी स्वतंत्र होना चाहिए।

इंदु०—घर मे कोई इतजाम करना हो, तो जब तक छोटे-बड़े सब एक राय न हो जायँ और उसमे सहायता न दें, तब तक वह इतजाम चल ही नहीं सकता।

गंगा—चले या न चले, मैं तुमसे साफ कहता हूँ, मुझसे तो यह सध्या इत्यादि का खटराग सम्हलनेवाला नही। यह सिर झुका है, सुर्जो की तरह चाहे दो-चार जूतियाँ मार लो।

इंदु०—या परमेश्वर! सध्या-पूजा क्या ऐसी कठिन चीज़ है कि जूती खानी कबूल, परंतु उनको करना मजूर नहीं? आखिर ब्राह्मण के पुत्र हो।

गगा—यह सब ठीक, परतु मुझको तो ये काम ऐसे ही मालूम होते हैं।

इंदु०—परंतु हम लोगों की खातिर सही।

गगा—मुझसे हो ही नहीं सकते।

इंदु०—तो यो कहो कि तुमको बाप के कहने की जिद है।

गंगा—जो कुछ समझो।

इंदु०—भला फिर इसका परिणाम क्या होगा?

गंगा—होगा क्या? बहुत करेंगे बिगड़ेंगे। दो-चार दिन मैं उनके सामने न जाऊँगा। आखिर तुम कह-सुनकर बात को करा ही दोगी।

इंदु०—यदि यही करना होता, तो मैं इस बात के लिये तुमसे अनुरोध न करती।

गंगा—फिर क्या मुझे फाँसी दिलवा देंगे ? मार डालेंगे ? क्या करेंगे ?

इंदु०—भला बेटा, कोई किसी को मार सकता है। एक ज़रा-सा हाथ लगाने में तो तुर्जा ने ज़मीन-आसमान एक कर दिया है। ईश्वर ही कल्याण करे। जान से मारना तो पाप और बड़ा भारी अपराध है।

गंगा—संभव है कि घर से निकाल दें।

इंदु०—शायद ! तुम तो बेटे हो, इस समय तो उनकी यह दशा है कि यदि मैं ज़रा भी विरोध करूँ, तो तीस वर्ष का घर ढा देने को तैयार हैं।

गंगा—शायद इसी डर के मारे तुम सब-के-सब उन्हीं की-सी कहने लगे ?

इंदु०—इस समय तक तो किसी के साथ किसी प्रकार की सख़्ती करने की नौबत नहीं आई। बातें ही वह इस तरह से करते हैं कि कोई उनसे विवाद कर ही नहीं सकता। लेकिन कोई तुम्हारी तरह जो कठहुज्जती करता तो अवश्य बिगड़ते।

गंगा—मैं उनके क्रोध से तो ख़ैर कुछ भय भी करता था,

लेकिन घर से निकलने को तो ईश्वर की सौगध कुछ भी परवा नहीं करता। घर के लालच से जो सध्या-पूजन के बधन मे पड़े, उसको भी कुछ कहता हूँ। अपने खाने-कपड़े पर घमड करते होंगे। मैं उन-जैसे दस को खाना-कपडा दे सकता हूँ।

इदु०—बेटा, तुम्हारे पिता ने तो ऐसे शब्द कभी मुँह से भी नही निकाले। तुम अपने दिल से जो चाहो गढ़ो।

गगा—नहीं, उनके हठ से मालूम होता है कि खाने-कपड़े का डर दिखाकर चाहते हैं कि हमे अपने बस में कर लें और जिधर नाक पकड़कर घुमावें, उधर घूमा करें। सो यह दिल से दूर रक्खें। मेरा चित्त स्वय घर से टूट गया है। न-जाने कौन-सा कारण था, जिससे मै इतने दिनों तक टिक गया। यदि पहले से ज़रा भी मुझे मालूम हुआ होता, तो तुम्हारी कसम, कभी का घर से ऐसा गया होता जैसे गदहे के सिर से सीग। और अब देख लेना।

इदु०—बेटा, तुम कैसी बातें कर रहे हो। बाप तक गए नहीं, न अपनी कही, न उनकी सुनी। आप ही आप तुमने बातें बना लीं और उस पर गुस्सा करने लगे।

गंगा—अच्छा तुम्हीं बताओ, वास्तव में छेड-छाड मेरी तरफ से शुरू हुई या उनकी तरफ से?

इंदु०—अपनी भलाई की बात को तुमने छेड़-छाड़ समझा। माना कि उन्हीं की तरफ से छेड़-छाड़ शुरू हुई, तो तुमको घर से बिगड़ने का कारण ? घर में तो मैं भी हूँ। ईश्वर की कृपा से तुम्हारे भाई हैं, बहनें हैं। हम सबने तुम्हारा क्या बिगाड़ा है ?

गंगा—तुम सब उन्हीं से मिली हुई हो। अच्छा, यदि तुम मेरा पक्ष लेना चाहती हो, तो मेरा साथ दो।

इंदु०—यदि तुम्हारे पिता की ज्यादती होती, तो अवश्य मैं तुम्हारी तरफदारी करती। मनुष्य को उचित है कि ऐसे काम करे कि दस भले आदमियों में बात पड़े, तो उसको थू-थू न करें। मान लो कि तुम इतनी ही बातों में घर से चले गए, तो लोग तुम्हीं को दोषी ठहराएँगे।

गंगा—मुझे इसकी परवा नहीं। लोग मेरे अन्नदाता नहीं। मैं उनका नौकर नहीं। वह राजा नहीं, मैं प्रजा नहीं। जब मैं पिता के कहने की परवा नहीं करता, तो लोग पड़े भूँका करें।

इंदु०—बेटा, संसार में रहकर यह स्वतंत्रता निभ नहीं सकती।

गंगा—देखना क्योंकर निभाता हूँ।

इंदु०—तो क्या तुम घर से चले जाओगे ?

गगा—मुझे कोई रोक भी नहीं सकता।

इंदु०—"क्यों? रोकनेवाली मैं मौजूद बैठी हूँ। क्या मै तुम पर इतना भी जोर नही है?" यह कहकर इंदुमती दिल भर आया और आँसू बहाकर कहने लगी—"मैंने तुम नौ महीने तक क्या इसी दिन के लिये गर्भ मे रक्खा था और इ लिये तुम्हारे पालने का दुःख उठाया था कि जब बहार देखने दिन आए, तो तुम मुझसे अलग हो जाओ? गगा, सच कह हूँ, माता का ऋण बड़ा भारी होता है। भला ऐसे जाने में कौ सी भलाई देखते हो कि बाप को अलग रंज करके जाओ, मा को अलग बिलखती छोड दो और सो भी अकारण?

गगा—अब तो यही दिल मे ठनी है। सिर जाय, पर द सिर न जाय। कुछ विशेष कर यही कारण नही। ब काल से मेरा दिल घर मे बैठे-बैठे उकता गया है, अब च जरा बाहर की भी हवा खाऊँ।

इंदु०—घर से बिगड़कर जाओगे, तो शहर मे बाप-द का नाम खूब उछलेगा।

गगा—पिता ही को जब मेरी इज्जत का खयाल नहीं रहा, तो कुल का नाम रहे या न रहे, मेरी बला से।

इंदु०—बाप-दादे की इज्जत रहे चाहे जाय, तुमने घर से बाहर पैर रक्खा और तुम्हारी बात दो कौड़ी की हुई। यही

तुम्हारे मित्र, जो सदा लल्लो-पत्तो मे लगे रहते हैं, आँख तक नहीं मिलाएँगे, साथ देना तो अलग रहा।

गंगा—घर से निकलकर क्या मैंने दिल्ली में रहने को कसम खाई है? जिधर को मुँह उठ गया, चला गया।

इंदु०—भला मैं सुनूँ कि तुमने कौन-सा ठिकाना सोचा है?

गंगा—जब पैर बाहर पड़े, तो फिर कहाँ ठहरें, इसका ठीक नही।

इंदु०—भला फिर इससे क्या लाभ कि तुमने सुख छोड़ा, चैन त्यागो, घर से दूर कुटुंब तथा मित्र इत्यादि से अलग और इन सबके बदले मिला तो क्या—बदनामी का जामा, अपयश की पदवी, दरिद्रता का पुरस्कार, दुःख और कष्ट का आज्ञा-पत्र। मोटी-सी-मोटी समझ और छोटी-सी-छोटी अक्ल भी इसे अनुचित समझेगी।

गंगा—ऊँह।

इंदु०—तुम तो पिता को पागल और सनकी बताते हो, परंतु सच पूछो, तो तुम्हारी बातों से इसके लक्षण तुम्हीं मे पाए जाते हैं। देखो, कहे देती हूँ, बहुत पछताओगे और रोओगे। मैं यह नहीं कहती कि तुम मेरी बात मानो, लेकिन जिसको तुम अपने नजदीक योग्य, बुद्धिमान् तथा न्यायी समझते हो, उससे पूछो, सलाह लो, देखो तो वह क्या कहता है?

गगा—राय अपनी ही सलाह है।

इदु०—भला इतना तो तुम समझो कि मैं जो तुमसे इतना अनुरोध कर रही हूँ और इतनी देर से तुम्हारे पीछे सिर खपा रही हूँ, इसमे कुछ मेरा लाभ या तुम्हारे पिता का फ़ायदा है? यदि तुम सच्चरित्र बनोगे, तो कुछ हमको दे दोगे या कुराह चलोगे, तो कुछ हमसे छीन लोगे? मगर ईश्वर ने यह सतान की ममता ऐसी हमारे पीछे लगा दी है कि जी नहीं मानता और दिल सतोष नही करता कि तुमको बिगडते देखें और न रोकें। तुम ख़राबी के लक्षण ग्रहण करो और हम मना न करे।

मा और बेटे मे ये बातें हो ही रही थी कि दौलतिया अंदर से एक पत्र लिए हुए निकली और उस पत्र को गंगा के हाथ में दिया। पत्र को देखते ही इ दुमती समझ गई कि हो न हो, यह गंगा के पिता का पत्र है। जब तक गगा पत्र पढ़ रहा था, इंदुमती चुप बैठी देखा की। पत्र पढ़ चुकने के बाद गगा चाहता था कि फिर वही बात छेड़े, इतने मे उसकी माता ने पूछा—"पिता ने क्या लिखा है?"

गगा—उनको तो जानती हो कि जिस बात के पीछे पडते हैं, तो पहरो की खबर लेते हैं। फिर बुलाया है।

इदु०—केवल बुलाने का इतना लबा-चौड़ा पत्र? लाओ

ज़रा मैं भी देखूँ। इंदुमती ने पत्र को लेकर पढ़ा, जो इस प्रकार था—

प्रिय पुत्र,

आशीर्वाद। मैंने तुमको पहले नर्मदा और फिर कुस्मी के द्वारा बुलवाया, तुम न आए, और न इस ढिठाई के लिये क्षमा ही माँगी। जिससे स्पष्ट है कि तुमने मुझको निकृष्ट और मेरी आज्ञा को नीच समझा है। हालांकि मेरे नज़दीक दुनिया का कोई ज़रूरी-से-ज़रूरी काम भी ऐसा नहीं हो सकता कि बाप बुलाए और बेटा उसके हीले से बाप के पास आने में इधर-उधर करे, फिर भी यदि कोई ऐसा ही ज़रूरी काम तुम्हारे सामने उपस्थित था कि तुम उसको पूरा करना पहले और मेरी आज्ञा का पालन करना पीछे समझते थे, तो उस ज़रूरत को मुझसे कहना और अपनी लाचारी को प्रकट करना भी तुम्हारा कर्तव्य था। न केवल इस कारण कि मैं तुम्हारा पिता हूँ और तुम मेरे पुत्र हो, बल्कि लोक-लज्जा के विचार से और सामाजिक नियम के अनुसार तुम्हें ऐसा करना उचित था। संसार का कारोबार जिस नियम और दस्तूर से चलता है, तुम अपने को उससे बेख़बर और अनजान नहीं कह सकते। हर घर मे एक मालिक, हर मुहल्ले में एक रईस, हर बाज़ार में एक चौधरी, हर शहर में एक हाकिम, हर देशमें

एक राजा, हर सेना में एक सेनापति, हर काम का एक अफ़-सर, हर मठ का एक महत होता है। तात्पर्य, यह कि हर घर एक छोटा-सा राज्य है। जो मनुष्य घर में बूढ़ा है, वह उसमें राजा के समान है और घर के अन्य प्राणी प्रजा के समान, जिन पर उस बूढ़े का हर प्रकार से अधिकार है। यदि देश का प्रबध ठीक नहीं है, तो इससे साफ मालूम होता है कि यहाँ का राजा राज्य के योग्य नही है, और ईश्वर के आगे यहाँ की तमाम बुराइयों का अपराधी बनता है, क्योंकि यह सब उसकी बेपरवाही की वजह से होता है। इसी प्रकार घर में जो कुछ बुराइयाँ हैं, उनका कारण मै ही हूँ। सारा दोष मेरा ही है। मै अत्यंत लज्जा और दुःख के साथ स्वीकार करता हूँ कि आज तक मैं बहुत ही लापरवाह राजा और बेखबर हाकिम रहा हूँ। मेरी लापरवाही ने मेरे देश को नाश और राज्य को बरबाद कर दिया। मेरी बेखबरी ने न केवल मुझे ही हर प्रकार से अयोग्य बना दिया, बल्कि मेरी प्रजा को भी ऐसा गिरा दिया कि उसके पनपने की आशा नही। जैसे छोटे-छोटे राजे अपने वर्तमान सम्राट् के आगे अपने बुरे प्रबंध के लिये उत्तरदाता होते हैं और उनको अज्ञानता और ला-परवाही की सजा दी जाती है, उसी प्रकार मैं भी त्रिलोकी-नाथ के आगे अपने घर की खराबी का उत्तरदाता हूँ। दूसरों

को दृढ पाते देख अब मेरी आँखे खुली हैं और मैंने दृढ़ प्रतिज्ञा कर ली है कि मेरे घर के राज्य में जितनी बुराइयाँ हैं, उन सबको दूर करूँगा। बड़ी भारी अड़चन जो मैं अपने इस राज्य मे पाता हूँ, यह है कि मैं और मेरी प्रजा अर्थात् तुम लोग त्रिभुवनपति से विद्रोह और उनकी आज्ञा भंग करने पर तुले हो। उपासना रूपी कर, जो हमे नियत समय पर चुका देना चाहिए, बिल्कुल बाक़ी पड़ा है। जो कर हम पर लगाया गया है, मै देखता हूँ, वह बहुत ही हल्का और नर्म है। यदि हम ध्यान देते, तो उसका एक छोटा-सा अंश भी बाकी न लगता और वह कर बिना किसी हट-हट पट-पट के चुका देते। जो कुछ कोताही हमसे हुई है, ज़ाहिर है। अब दो ही बाते है। या तो पिछला कर पाई-पाई चुकता कर दे और अपने पापो को क्षमा करा लें तथा भविष्य के लिये प्रतिज्ञा कर ले कि कभी बाकी न रक्खेगे या उस जगदीश के साथ लड़ाई और सामना करें और हो सके, तो अपने को इन बखेडो से स्वतत्र बना लें। उस त्रिभुवननाथ की महाशक्ति और हमारी अल्पशक्ति तो प्रकट ही है। भला हम क्या हैं? जब कंस, रावण इत्यादि महाबली उसे न पा सके, तो इस चींटी की क्या गिनती। अतः सिवा इसके कि हम उसके सामने सिर झुकाए रहे और कोई उपाय नही।

तुमको इन प्रजाओं में बड़ा और बुद्धिमान् समझकर इस राज्य के प्रबंध के संबंध में सम्मति लेने के लिये बुलाया था तुम्हारे न आने से साबित हुआ कि तुमको सरकार का जरा भी डर नहीं है। अब तक मैंने अलंकार मे तुमसे बातें की हैं इससे तुमको मालूम हो जायगा कि किस मजबूरी से मैं तुम्हारी बातों और व्यवहारों में पड़ता हूँ। मेरा ऐसा कहना तो तुम्हें अवश्य बुरा मालूम होता होगा, परतु जब बुद्धि और विचार से काम लोगे, तो तुम्हे मालूम हो जायगा कि मेरा यह कार्य (अर्थात् तुम्हारे बुरे कामों से तुम्हें बचाना) अनुचित नहीं, बल्कि उचित है। जिस प्रतिज्ञा के बंधन में मैं तुमको डालना चाहता हूँ, मैं अपने को अथवा और किसी को उससे मुक्त नहीं करता। फिर शिकायत क्या और सकोच क्यों? तुम-जैसे युवक को धर्म के विषय में कभी-कभी शंकाएँ भी हुआ करती हैं, पर इसमे कोई दोष नहीं, क्योंकि यह तो मनुष्य का स्वभाव ही है। बल्कि इससे यह प्रकट होता है कि मनुष्य को धर्म में बहुत रुचि है। जब इसका पूर्ण रूप से समाधान हो जायगा, तब निश्चय है कि मनुष्य अपने धर्म पर अचल रहेगा। यदि तुममें से कोई कुछ शका उठावे, तो उसके दूर करने के लिये मैं सदा तत्पर हूँ। जहाँ तक मेरी बुद्धि जा सकती है, वहाँ तक मेरा यह विचार है कि धार्मिक

सिद्धांत ऐसे सच्चे, शुद्ध और साफ़ हैं कि उनमें किसी प्रकार के मतभेद अथवा उत्तर का होना असंभव है। इस हेतु कि हम लोग आरंभ ही से अब तक प्रमाद, आलस्य, बेपरवाही में फँसे, अपने धर्म से अंधे बने और ईश्वर को भूले हुए अपने जीवन व्यतीत करते रहे, पाप से लिप्त तथा निकृष्ट व्यवहारों में फँसकर हमने अपने शुद्ध चित्त को इन कर्मों से बिगाड़ दिया है, इसलिये हमें इस आइने के साफ़ करने में कष्ट तो बहुत होगा, परंतु मुझे पूर्ण आशा है कि जब हम चेत गए, तो अपनी दृढ़ प्रतिज्ञा पर डटे रहने से हम अवश्य अपने कार्य में सफलता प्राप्त करेंगे। परंतु मेरी कामना यही है कि प्रत्येक प्राणी अपने-अपने विचारों तथा व्यवहारों को शुद्ध करने में उद्यत हो जाय। जब मैं अपने कुटुंब के जीवन व्यतीत करने पर विचार करता हूँ, तो कलेजा फट जाता है, क्योंकि यह सब मेरी ही लापरवाही के परिणाम हैं। हे परमेश्वर! क्या अच्छा होता, यदि मैं अपने ही पापों के अपराध में पकड़ा जाता। नहीं-नहीं, मुझपर तुम लोगों का भी भार है। मेरा साझा तुम लोगों के पापों में भी है। मैं ईश्वर का दोषी अलग हूँ, तुम्हारा अपराधी अलग। लेकिन दुःख है, तो इसी बात का कि इन कर्मों के दोष से मुझे छुटकारा नहीं मिल सकता। हाँ, यदि तुम लोग मुझपर दया करके अपना सुधार करो, तो मैं

कुछ आशा कर सकता हूँ। क्या तुम इस बात को पसंद करोगे? क्या तुम्हारा दिल मेरी राय के लिये गवाही देता है? क्या तुम्हे यह आशा है कि तुम्हारी सच्चरित्रता से परमेश्वर मुझे क्षमा कर देंगे? या मेरा पकड़ा ही जाना तुम्हें पसंद है? चूँकि तुम मेरे बड़े बेटे हो, मुझे सबसे अधिक तुम्हारा भरोसा था कि तुम इस कष्ट में मेरा साथ दोगे, मेरी सहायता करोगे, किंतु तुमने तो मिलने से भी किनारा किया। मैं तुमसे सत्य कहता हूँ कि मेरी आस टूट गई, और मेरे तमाम मंसूबे बिगड़ गए। इतना बड़ा काम, और मैं अकेला! तुम जानते हो कि तुम्हारा विरोध करना मेरे कार्य में कितना बड़ा बाधक होगा। छोटे-बड़े सब तुम्हारा ही उदाहरण देंगे। यदि तुम मेरी बातों को सुन लेते, तो तुम्हारा क्या बिगड़ जाता? तुमने इस समय वह काम किया, जिसकी आशा मुझे कभी न थी। जितनी आपत्तियाँ मेरे आगे उपस्थित हैं, मैं उनसे बेख़बर नहीं हूँ। यदि प्रतिज्ञा का तोड़ देना मेरे वश में होता, तो मैं तुमसे सच कहता हूँ, इस बात को मुँह ही से न निकालता। लेकिन मैं ख़ूब जानता हूँ कि मैं कोई अनोखा आदमी नहीं हूँ। आख़िर मुझे एक-न-एक दिन मरना है। अभी जब मैंने हैजा किया, तो क्या मरने में कुछ बाक़ी था? ईश्वर की दया थी कि उसने मुझे फिर से जिला दिया।

लेकिन बकरे की मा कब तक खैर मनाएगी ? जिस तरह मरना ज़रूरी है, उसी तरह यह भी जरूरी है कि मुझको अपने कर्मों के वास्ते ईश्वर के यहाँ उत्तर देना पड़ेगा, और न केवल अपने ही कर्मों के वास्ते, बल्कि तुम लोगों के कर्मों के लिये भी। इसलिये सिवाय इसके कि मैं अपने और तुम लोगों के जीवन के प्रवाह को बदल दूँ, और कोई उपाय नहीं। यदि तुम मेरे पास आए होते और मुझसे तुमसे और बातचीत हुई होती, तो मैं तुम्हारी सम्मति लेकर एक खास तौर पर बाते करता। अब मुझको मालूम नहीं कि जितनी बाते मैंने कहीं, इनमे कौन-सी तुमको स्वीकार है और किस-किस से तुमको इनकार है। अब अधिक लिखना मैं व्यर्थ समझता हूँ। जो कुछ मेरी बुद्धि मे आया, मैंने लिखा। मै तुमसे इसके उत्तर पाने की इच्छा नहीं रखता। इसके दो कारण हैं। पहला तो यह कि मै अपनी बातो के बीज मे पौधे निकलते नहीं देख सकता, दूसरे केवल एक ही उत्तर है, जिसका सुनना मै पसद करता हूँ। वह यह कि तुम मेरी शर्तों को स्वीकार करो, नहीं तो मैं इस मँगनी की ज़िदगी मे सड़े मांस को अपने शरीर में रखकर सारे शरीर को नष्ट करना नहीं चाहता। यह मेरे हारे दरजे की तदबीर है और मैं ईश्वर से गिड़गिड़ाकर प्रार्थना करता हूँ कि मुझको ऐसा करने से कोई भी वस्तु बाधक न हो। शुभम्

तुम्हारा पिता

पत्र पढ़कर इंदुमती बेटे से कहने लगी—"देखा ? क्या अब भी तुमको सनकीपने का गुमान है ?"

गंगा—गुमान कैसा ? हमें तो विश्वास हो गया। अपने को राजा समझना पागलपन नहीं, तो क्या है ?

इंदु०—हरि-हरि !

गंगा—क्यों, तुमने हरि-हरि क्यों कहा ?

इंदु०—तुम्हारी उलटी समझ और दुर्भाग्य पर।

गंगा—भला है वही, जो कुछ बदा है।

इंदु०—तो क्या सचमुच तुम अपने पिताजी के पास नहीं जाओगे ?

गंगा—अब तो मेरा न जाना उनको भी मालूम हो गया फिर क्या ज़रूरत है ? कल जैसा होगा, देखा जायगा।

इंदु०—देखो, फिर मैं तुमसे कहे देती हूँ कि रात को निश्चिंत हो इस पत्र पर ध्यान देना। तुम्हारे पिता ने कुछ भी अनुचित नहीं लिखा है। जो कोई इस पत्र को देखेगा, तुम्हीं को कायल करेगा।

ग्यारहवाँ परिच्छेद

"ईश्वर की लाठी में आवाज़ नहीं होती"

अभी इंदुमती यह बात पूरी भी नहीं कहने पाई थी कि श्यामा की पालकी आ पहुँची। उतरते के साथ मौसी (इंदुमती) से यही पूछा—"कहो, बहन ने कुछ खाया है या नहीं?"

मौसी—कुछ भी नहीं।

श्यामा—हैं कहाँ?

मौसी—भीतर कोठरी में।

श्यामा—आखिर बात क्या हुई थी?

मौसी—क्या नर्मदा ने तुमसे कुछ नहीं कहा?

श्यामा—इतना ही कहा कि लड़ाई हुई है। सबेरे से कुछ खाया नहीं। बहुत पूछा, परंतु कुछ न बताया, और कहा कि 'भाई, वहीं चलकर पूछ-गछ लेना।"

तब इंदुमती ने पूरा वृत्तांत कह सुनाया। श्यामा बड़ी बुद्धिमान् लड़की थी। वह यद्यपि सुर्जी से अवस्था में कुछ छोटी थी, पर दोनों में बड़ा ही मेल था। श्यामा ने कुछ आगा-पीछा सोचकर मौसी से कहा—"यदि ईश्वर ने चाहा, तो मैं सुर्जी बहन को मना लूँगी, मगर मेरे सिवाय उस मकान में

दूसरा आदमी कोई न रहे, क्योंकि घर मे जितने आदमी हैं, आखिर सब इस बात को जानते होगे। यदि इनमे से कोई भी सामने आएगा, तो बहन को अवश्य लज्जा आएगी।"

बात भी श्यामा ने बुद्धिमानी की सोची थी, क्योंकि एक घर मे जब किसी का अपमान होता है, तो वह उन सबको जो उसकी दुर्दशा को देख चुके हैं, अपना शत्रु ठहरा लेता है, शायद इस खयाल से कि ये सब खड़े मुँह देखा किए, और किसी ने मेरी मदद न की। फिर उनमें से जब कोई सामने आता है, तो उस दुखिया को ऐसा मालूम होता है कि इसी ने मेरी यह दशा कराई है। क्या है ? उसका क्रोध दूना हो जाता है, मानो जलती हुई आग में सूखे पत्ते पड़ गए। बेचारी गुल्बी ने जो मुफ्त में दुलत्ती खाई, सो इसी वजह से; नहीं तो उसका क्या दोष था ? वह मा-बेटी के बीच में कुछ बोली नहीं, चाली नहीं; न किसी तरह का दखल दिया, न किसी का पक्ष किया। किसी के बीच में पड़ने की नौबत ही कहाँ से आई ? मा-बेटी में एक ही बात पर रगड़-झगड़ होने लगी, जैसे हमेशा हुआ करती थी। मा ने एकाएक एक तमाचा खींच मारा। बात-की-बात में तैयारी, सामान, इरादे, चढ़ाई, मार-काट, हार-जीत सब कुछ हो गया। घरवाले देखते-के-देखते ही रह गए।

श्यामा ने जो अपना इंतजाम मौसी को सुनाया, उसे उन्होंने

भी पसंद किया, और सब लोगों से कह दिया कि उस खंड में कोई न जाय। हरएक को सोने-बैठने का ठिकाना बता दिया, और अपने लिये सोचा कि आज कोठे ही पर सो रहेंगे। यही राय श्यामा ने भी दी कि तुम कोठे पर जाकर सो रहो। उस पर इंदुमती ने कहा—"हाँ, जब सोना नसीब हो, तब तो। अभी तो गंगा के संग सिर मारना है।"

श्यामा—क्या उनसे भी लड़ाई हुई है ?

इंदु०—लड़ाई कैसी, उनसे तो झुट्टमझुट्टा हो रही है।

श्यामा—किस बात पर ?

इंदु०—बात तो इतनी ही है कि तुम्हारे मौसा ने उन्हें धार्मिक विषय पर कुछ शिक्षा देने के लिये अपने पास बुलवाया, और वह नहीं गए।

श्यामा—मौसा ने बुलवाया और वह नहीं गए!

इंदु०—तुमको न जाने पर आश्चर्य होता है। बातें सुनो, तो हैरान हो जाओ। वह बाप को पागल और सनकी, संध्या इत्यादि को खटराग, साधु-संत को भिखमंगे और गुरु को ठग बनाते हैं।

श्यामा—किसी ने तुमसे मिथ्या कहा होगा।

इंदु०—मेरे सामने कहा है।

श्यामा—फिर किसी से उनको समझवाया होता।

इंदु०—एक समझाना ! नर्मदा ने बहुतेरा सिर मारा। शाम से अब तक कहते-कहते मैं थक गई। जिन-जिन दुःखों में आज का दिन कटा है, वह ईश्वर ही जानता है। मेरे और चुन्नो के मुँह में दाना तक गया हो, तो जिसकी चाहो, शपथ ले लो। उस पर सुर्जी की चिंता, गंगा को फिक्र और सबसे बढ़कर सुर्जी के बच्चे का सँभालना। आज उसको दिन भर रोते बीत गया।

श्यामा—चलो, तुम भोजन करो; कोई चिंता की बात नहीं है। घर में तो यह सब हुआ ही करता है। मैं आशा करती हूँ कि तुम खाकर भी नहीं उठोगो, तभी मैं सुर्जी बहन के लिये भोजन मँगवाऊँगी।

इंदु०—मेरी क्या जल्दी है, मैं तो खा ही लूँगी। चुन्नी बेचारी के संतोष को देखो कि उसने भोजन का नाम भी नहीं लिया। कल इसी समय को खाई हुई है। खाली पेट में दिन-भर पानी उँडेलती रही। मैंने बहुतेरा कहा, न माना; आखिर भूखी सो रही।

श्यामा—क्या चुन्नो पर भी बिगड़ी थी ?

इंदु०—बिल्कुल नहीं। उसने बहन के दुःख में भोजन नहीं किया। बहन का वह हाल कि बस, चले तो जान से मार डालने में भी संकोच नहीं, और उसकी यह अवस्था कि

बहन पर अपने प्राण देती है। भतीजे (सुर्जी का बच्चा) को इस प्रकार से प्यार करती है कि रात को भी साथ लेकर सोती है।

श्यामा—चुन्नी को तुम जगाओ, और सब चिंताओं को दूर कर भोजन करो, और उसको भी खिलाओ। बहन को भी कुछ फ़िक्र न करो।

यह कहकर श्यामा ने मकान के भीतर घुसते ही पुकारा—"बहन, ओ सुर्जी बहन, अरे कोई दाई-वाई है कि नहीं? बताती क्यों नहीं, मेरी जीजी कहाँ हैं?" परंतु यहाँ घर मे जब कोई हो, तब तो। सबसे पहले भोजनालय मे गई, वहाँ न देखा। दालान में आई, वहाँ भी न पाया, तो भंडार की ओर आई। अंत मे टालमटोल करते-करते उसकी कोठरी के पास आकर झाँकने लगी, जहाँ श्रीमतीजी मौन धारण किए बैठी थीं। सुर्जी दिन-भर तो ज़मीन पर पड़ी रही, मगर श्यामा की आवाज़ सुनने के साथ जल्दी से उठ पलँग पर जा लेटी और दरवाज़े की ओर पीठ कर ली। श्यामा ने पहले तो अनजान बनकर पूछा—"पलँग पर यह कौन लेटा है?" फिर आप-ही-आप कहने लगी—"अहा जीजी हैं! ई अकेली कोठरी मे और ऐसे सवेरे।" इतना कहा और दौड़कर सुर्जी को लिपट गई।

इंदु०—एक समझाना ! नर्मदा ने बहुतेरा सिर मारा। शाम से अब तक कहते-कहते मैं थक गई। जिन-जिन दुःखों में आज का दिन कटा है, वह ईश्वर ही जानता है। मेरे और चुन्नी के मुँह में दाना तक गया हो, तो जिसकी चाहो, शपथ ले लो। उस पर सुर्जी की चिंता, गंगा की फिक्र और सबसे बढ़कर सुर्जी के बच्चे का सँभालना। आज उसको दिन भर रोते बीत गया।

श्यामा—चलो, तुम भोजन करो; कोई चिंता की बात नहीं है। घर में तो यह सब हुआ ही करता है। मैं आशा करती हूँ कि तुम खाकर भी नहीं उठोगी, तभी मैं सुर्जी बहन के लिये भोजन मँगवाऊँगी।

इंदु०—मेरी क्या जल्दी है, मैं तो खा ही लूँगी। चुन्नी बेचारी के संतोष को देखो कि उसने भोजन का नाम भी नहीं लिया। कल इसी समय की खाई हुई है। खाली पेट में दिन-भर पानी उँडेलती रही। मैंने बहुतेरा कहा, न माना; आखिर भूखी सो रही।

श्यामा—क्या चुन्नी पर भी बिगड़ी थी ?

इंदु०—बिल्कुल नहीं। उसने बहन के दुःख में भोजन नहीं किया। बहन का यह हाल कि बस, चले तो जान से मार डालने में भी संकोच नहीं, और उसकी यह अवस्था कि

बहन पर अपने प्राण देती है। भतीजे (सुर्जी का बच्चा) को इस प्रकार से प्यार करती है कि रात को भी साथ लेकर सोती है।

श्यामा—चुन्नी को तुम जगाओ, और सब चिंताओं को दूर कर भोजन करो, और उसको भी खिलाओ। बहन को भी कुछ फिक्र न करो।

यह कहकर श्यामा ने मकान के भीतर घुसते ही पुकारा—"बहन, ओ सुर्जी बहन, अरे कोई दाई-वाई है कि नहीं? बताती क्यों नही, मेरी जीजी कहाँ है?" परंतु यहाँ घर मे जब कोई हो, तब तो। सबसे पहले भोजनालय मे गई, वहाँ न देखा। दालान में आई, वहाँ भी न पाया, तो भंडार की ओर आई। अंत में टालमटोल करते-करते उसकी कोठरी के पास आकर झाँकने लगी, जहाँ श्रीमतीजी मौन धारण किए बैठी थीं। सुर्जी दिन-भर तो ज़मीन पर पड़ी रही, मगर श्यामा की आवाज़ सुनने के साथ जल्दी से उठ पलँग पर जा लेटी और दरवाज़े की ओर पीठ कर ली। श्यामा ने पहले तो अनजान बनकर पूछा—"पलँग पर यह कौन लेटा है?" फिर आप-ही-आप कहने लगी—"अहा जीजी हैं! ई अकेली कोठरी में और ऐसे सवेरे।" इतना कहा और दौड़कर सुर्जी को लिपट गई।

इंदु०—एक समझाना ! नर्मदा ने बहुतेरा सिर मारा। शाम से अब तक कहते-कहते मैं थक गई। जिन-जिन दुःखों में आज का दिन कटा है, वह ईश्वर ही जानता है। मेरे और चुन्नी के मुँह में दाना तक गया हो, तो जिसकी चाहो, शपथ ले लो। उस पर सुर्जी की चिंता, गंगा की फिक्र और सबसे बढ़कर सुर्जी के बच्चे का सँभालना। आज उसको दिन-भर रोते बीत गया।

श्यामा—चलो, तुम भोजन करो ; कोई चिंता की बात नहीं है। घर में तो यह सब हुआ ही करता है। मैं आशा करती हूँ कि तुम खाकर भी नहीं उठोगी, तभी मैं सुर्जी बहन के लिये भोजन मँगवाऊँगी।

इंदु०—मेरी क्या जल्दी है, मैं तो खा ही लूँगी। चुन्नी बेचारी के संतोष को देखो कि उसने भोजन का नाम भी नहीं लिया। कल इसी समय को खाई हुई है। खाली पेट में दिन-भर पानी उँडेलती रही। मैंने बहुतेरा कहा, न माना; आखिर भूखी सो रही।

श्यामा—क्या चुन्नी पर भी बिगड़ी थी ?

इंदु०—बिल्कुल नहीं। उसने बहन के दुःख में भोजन नहीं किया। बहन का वह हाल कि बस, चले तो जान से मार डालने में भी संकोच नहीं, और उसकी यह अवस्था कि

बहन पर अपने प्राण देती है। भतीजे (सुर्जी का बच्चा) को इस प्रकार से प्यार करती है कि रात को भी साथ लेकर सोती है।

श्यामा—चुन्नी को तुम जगाओ, और सब चिंताओं को दूर कर भोजन करो, और उसको भी खिलाओ। बहन की भी कुछ फ़िक्र न करो।

यह कहकर श्यामा ने मकान के भीतर घुसते ही पुकारा—"बहन, ओ सुर्जी बहन, अरे कोई दाई-वाई है कि नहीं? बताती क्यों नहीं, मेरी जीजी कहाँ है?" परंतु यहाँ घर में जब कोई हो, तब तो। सबसे पहले भोजनालय में गई, वहाँ न देखा। दालान में आई, वहाँ भी न पाया, तो भंडार की ओर आई। अंत में टालमटोल करते-करते उसकी कोठरी के पास आकर झाँकने लगी, जहाँ श्रीमतीजी मौन धारण किए बैठी थीं। सुर्जी दिन-भर तो ज़मीन पर पड़ी रही, मगर श्यामा की आवाज़ सुनने के साथ जल्दी से उठ पलँग पर जा लेटी और दरवाज़े की ओर पीठ कर ली। श्यामा ने पहले तो अनजान बनकर पूछा—"पलँग पर यह कौन लेटा है?" फिर आप-ही-आप कहने लगी—"अहा जीजी हैं! ई अकेली कोठरी में और ऐसे सबेरे।" इतना कहा और दौड़कर सुर्जी को लिपट गई।

सुर्जी ने जब से श्यामा की आवाज सुनी थी, उसको इसी बात का आश्चर्य था कि शान न गुमान, एकाएक यह कहाँ से टपक पड़ी ? परंतु यह बात उसकी बुद्धि मे नहीं आई थी कि यह बुलवाई हुई आई है। सुर्जी ने उस समय अपने को ऐसा बना लिया, मानो देर से सो रही है, और भारी-सी आवाज बनाकर बोली—"ऐहै भाई ! हमको दिक मत करो, सोने दो।"

श्यामा—अरे सुर्जी बहन, मैं हूँ मैं, श्यामा। उठो, आँखें तो खोलो ; अभी से क्यों सो रहीं ? जी कैसा है ?

यद्यपि सुर्जी ने चाहा था कि अपनी दशा को श्यामा पर जाहिर न करे, तथापि श्यामा ने इस भाव से पूछा कि सुर्जी फिर न रुक सकी और रोने लगी। उसको रोती देख श्यामा ने और आग्रह से पूछना शुरू किया—'सिर दुखता है ? पेट में पीड़ा है ? बच्चे का जी कैसा है ? सुसरालवालों ने कुछ कहला भेजा है ? घर में किसी से लड़ाई हुई है ?" श्यामा बहुतेरा पूछती थी, परंतु सुर्जी हाथों को हटाती जाती और कुछ बोलती न थी। अंत में श्यामा ने कहा—"न बताओ, तो मुझी को खाओ।" तब सुर्जी बिगड़कर बोली—"चल घूमी, मुझी को बनाने आई है, मानो इन्हें खबर ही नहीं।

श्यामा—अभी तो मेरे यहाँ की कथा समाप्त हुई है। प्रसाद

लेकर सीधी चली आती हूँ। यहाँ आई तो किसी को भी न पाया। शायद सब लोग दूसरे खंड में चले गए हैं। इतना सुना है कि बड़े भाई रंजीदा होकर घर से जा रहे हैं। मुझको तुमसे मिलने की जल्दी थी। केवल मौसी से राह मे भेंट हुई थी, पर उनसे सिवाय प्रणाम के और कुछ भी बात नही हुई।

सुर्जी—क्यों, बड़े भाई किस बात पर घर से निकल रहे हैं ?

श्यामा—लोग आपस में कह रहे थे कि मौसा ने कहला भेजा है कि यदि सन्ध्या-पूजन करना स्वीकार करे, तो मेरे घर मे रहे, नही तो जहाँ चाहे, चले जायँ।

सुर्जी—आग लगे इस संध्या को, वज्र टूटे इस पूजा पर। यह क्या, किसी को भी न रहने देंगी। यह तो सिवाय चुन्नी के और सबको घर से निकलवाएँगी।

श्यामा—तो क्या बहन, तुम बड़े भाई ही के वास्ते पड़ी रो रही थीं ?

सुर्जी—मुझको तो बेचारे बड़े भाई की खबर भी नही। उनसे पहले मैं स्वयं निकलने को बैठी हूँ।

श्यामा—छिः-छिः ! बहन, यह कैसी बात मुँह से निकालती हो। ईश्वर न करे, किसी भलेमानुस के घर की बहू-बेटियों के दिल में घर से निकलने का भाव आ जाय।

सुर्जी—जब से इस घर में इस सत्यानासी संध्या-पूजा की बात चली है, तब से भलमनसाहत रही कहाँ ? आई हो, तो दो-चार दिन ठहरकर सबका रंग-ढग देख लो । न वह पृथ्वी रही, न वह आकाश । घर की क़लई ही बदल गई है । न वह हँसी है, न वह दिल्लगी, न वे चर्चे हैं, न वे बातें, और न वे चहचहे ही हैं—घर मे उदासी छाई रहती है । नही तो अभी एक महीना हुआ कि मुहल्ले-भर की स्त्रियाँ सारी रात बैठकर यहाँ गाया करती और रतजगा मनाती थी । यह पड़ोसवाली गौनहारिन नई-नई नकलें करके सबको हँसाते-हँसाते लोट-पोटकर देती थीं । अब यही घर है कि कोई आकर थूकता भी नही । सारा घर भायँ-भायँ कर रहा है ।

श्यामा—आखिर इसका कारण ?

सुर्जी—कारण, तुम्हारे मौसा-मौसी का दुर्व्यवहार । किसी को क्या पड़ी है कि अपने काम का हर्ज करे और पराए घर आकर बैठे ? क्या लोगों के घरो में बैठने को जगह नहीं ? लोगो का आदर-सत्कार होता था, प्रेम के साथ सनमान करती थीं, तो लोग दौड़े आते थे । अब यह हाल है कि हर वक़्त मुँह कुप्पे की तरह फूला रहता है । पराए क्यो बरदाश्त करें ? सब-के-सब चलते हुए । पिताजी की बीमारी मे कितनी रतजगा की मनौती थी, कहीं कुछ भी न हुआ । हुई क्या कि दस-बीस

ब्राह्मणों को बुलाकर भोजन करा दिया। अब तो यहाँ इन सब-के बदले कथा ही हुआ करती है। मा को देखो, तो उस कुटनी (चुन्नी) को पास बैठाए रामायण ही सुनाया करती हैं। न-जाने उसे संन्यासिन बना देगी या क्या करेगी। ईश्वर ही जाने ? मेरा बस चले, तो उस कुतिया (चुन्नी) को इतना मारूँ, इतना मारूँ कि मुँह से ख़ून फेंक दे।

श्यामा—अरे चुन्नी तो इतनी सीधी और भली लड़की है कि आज तक मैंने उसके विरुद्ध कुछ भी नहीं सुना और तुम उसे ऐसा कहती हो ? वह तुम्हें जान से बढ़कर मानती है, और तुम्हारा उस पर ऐसा क्रोध ? मुझे अभी तक उस पूर्णिमा-वाले दिन की बात याद है। मेरे यहाँ उस दिन श्रीसत्यदेवजी की कथा थी। कथा समाप्त होने पर हम सबने प्रसाद लिया और चुन्नी को भी दिया। बल्कि उसको बच्चा समझकर सब-से अधिक और बढ़िया-बढ़िया चीज़ें दी थीं। हम सबों ने तो खाना शुरू कर दिया; परन्तु वह मुँह ही देखती रही। बहुत कहने पर यही जवाब दिया—"जब तक मेरी बड़ी बहन न ले लेगी, मै नहीं खा सकती, क्योंकि बिना उनके मुझे कुछ भी अच्छा नही लगता।" भला ऐसा प्यार काहे को दूसरे किसी की बहन करने लगी ? देखो, दिन-भर तुम्हारे बच्चे को लिए रहती है। और लड़के को भी ऐसा आराम मिलता है कि

कैसा ही फड़कता हुआ उसकी गोद में गया और चुप। केवल तुम्हीं से नहीं, हरएक से वह इसी प्रकार प्रेम से मिलती है। मैं तो तुमसे सच कहूँ, मुझको तो बहुत ही प्यार आता है। जब आती हूँ, खूब भीज-भीजकर कई-कई दफ़े गले लगाती हूँ।

सुर्जी—जिसको देखती हूँ, चुन्नी ही की प्रशंसा करता है और मेरा यह हाल है कि उसको देखकर आँखों में खून उतर आता है।

श्यामा—अच्छी, क्यों ?

सुर्जी—मुझको मा से इसी ने बुरा बनवाया। नहीं तो आज तक उन्होंने मुझे कभी 'हूँ' भी नहीं कहा था। आज छूटते के साथ न बात न चीत, मुझको थप्पड़ खींच मारा। अब तो जब तक इन्हीं हाथों से मा इसे जूतियों से न मारेंगी, मेरा कलेजा ठंडा न होगा, और जिस प्रकार आज यह सबके सिर चढ़ी है, जब तक सबकी दृष्टि से न गिरेगी, मुझे शांति न होगी।

श्यामा—मौसी ने तुमको थप्पड़ मारा ? यह कब और क्यों ?

सुर्जी—आज सवेरे ज़रा-को-ज़रा चुन्नी को लड़का थमा मुँह धोने चली गई, तुम कहती हो कि भतीजे पर जान देती

है, उसने लड़के को ज़मीन पर रोता हुआ पटक दिया। उसको इतना भी तरस न आया कि अभी बिल्कुल बच्चा है, यों ज़ो ज़मीन पर बिठाए देती हूँ, ऐसा न हो, कहीं उसको सुबह की ठंडी हवा लग जाय और फिर बीमार पड़े ? बस इतना दोष मेरा अवश्य है कि मैंने हौले से उसको हाथ लगाया। हाथ का लगाना था कि वह धड़ाम से पटरे पर गिर पड़ी, कहीं ज़रा-सी चोट आ गई।

श्यामा—क्या कहूँ, मेरा दिल इसे मानता ही नहीं कि चुन्नी भतीजे को बिना किसी कारण के ज़मीन पर रोता हुआ छोड़ दे, और मौसी उसका पक्ष लेकर तुमको मारें। भला जाऊँ, मौसी से पूछूँ ?

सुर्जी—चुन्नी के बिठा देने का कारण मैं तुम्हें बताऊँ। उनका स्तुति का समय भागा जाता था और उनकी अम्मा इस बात पर बिगड़ीं कि मैंने इसे बुरा क्यों कहा।

श्यामा—फिर तुमने ऐसा कहा था ?

सुर्जी—कहा था और अब भी कहती हूँ। मा को तो कुछ नहीं कहा। स्तुति अथवा प्रार्थना का बुरा कहना उनको क्यों बुरा लगा ?

श्यामा—भला कोई तुम्हारे माता-पिता को बुरा कहे, तो तुम्हे बुरा लगे कि नहीं ?

सुर्जी—मा को कोई शौक से बुरा कहे, मुझको ज़रा भी बु लगने ही का नहीं ।

श्यामा—आज या सदा से ?

सुर्जी मुसकिराने लगी और बोली—"इस निगोड़ी हँसी व देखो कि खुद-ब-खुद चली आती है। न श्यामा, हमसे ऐर बातें न करो।"

श्यामा—क्या कहना ! मैं तुम्हारे ऐसे क्रोध से नहीं डरती बहुत करोगी, मौसी ने तुम्हे एक तमाचा मारा है, तुम मुझे द मारोगी। माता-पिता का इतना ध्यान न था, तो सुसरालवाल से क्यों लड़ीं ?

सुर्जी—बात-बात मे कोई बुरा कहा करे, तो जी न जले ?

श्यामा—मैं यह कब कहती हूँ कि न जले ? लेकिन मौसी ने जो ईश्वर-वंदना के लिये कुछ कहा, तो तुम्हें बुरा क्यों लगा ?

सुर्जी—तो ईश्वर-वंदना उनकी मा है या नानी ?

श्यामा—जिनको ईमान है, उनको मा से भी बढ़कर प्यारी और नानी से भी अधिक प्रिय है।

सुर्जी—तो क्या मैं तुम्हारे नज़दीक बेईमान हूँ ?

श्यामा—जो जैसा कर्म करता है, वैसा होता है। मैं हुई या तुम, सबके लिये यही बात है।

सुर्जी—देखो श्यामा, मैं ईश्वर की सौगंध खाकर कहती हूँ कि ऐसी बातों में व्यर्थ विरोध पैदा हो जायगा। बेईमान तुम होगी, तुम्हारे रहने-सहते होंगे।

श्यामा—ईश्वर को कृपा से मैं तो बेईमान नही हूँ, मगर रहते-सहते कौन हुए ? तुम ?

सुर्जी—भला ईमान से कहना, तुमने कौन-सी बात मेरी बेईमानो की-सी देखी है ?

श्यामा—ईमान से मत कहलाओ।

सुर्जी—नही, तुम्हे परमेश्वर की क़सम, कोई बात बता तो दो।

श्यामा—बुरा तो न मानोगी ?

सुर्जी—सच्चो बात में क्या बुराई ?

श्यामा—सच और ईमान को बात तो यह है कि तुम्हारे कोई भी कर्म धर्म के अनुकूल नही हैं। और मुझसे पूछने की कौन-सी ज़रूरत है, तुम स्वयं ही बता दो कि मेरा अमुक काम धर्मानुकूल है। खाना, पीना, सोना, घर का काम-धधा, बच्चो का पालना, यह तो ससार में बुरे-भले सभी किया करते हैं। भला एक काम तो ऐसा बताओ जिससे तुम्हारा ईमानदार होना पहचाना जाय।

सुर्जी—भला दुनिया में तुम्हारे नज़दीक कोई भी ईमानदार है या नही ?

श्यामा—क्यों नहीं। सैकड़ों-हज़ारों।

सुर्जी—भला मैं भी किसी का नाम सुनूँ।

श्यामा—दूर क्यों जाओ, तुम्हारी ही गली में एक बुढ़िया माई रहती हैं, जिनके नाती तुम्हारे यमुना के साथ पढ़ने जाते हैं।

सुर्जी—मैं तो उनको दिन-भर सीती ही देखती हूँ।

श्यामा—सच है। ईश्वर के नाम पर ग़रीबों के कपड़े मुफ़्त और अमीरों के मजदूरी पर। लेकिन जितनी सिलाई होती है, उसके आधे में अपने घर का सब खर्च चलाती हैं और आधा फ़क़ीरों को अथवा दुखियों को दिया करती हैं। यह अवस्था और कड़ाके के जाड़ों में पहर रात रहे से उठकर ईश्वर की वंदना। घर में नौकर नहीं, चाकर नहीं। अपने हाथों सारे घर का काम-काज, उस पर दिनचर्या का इतना ख़याल कि ज़रा भी चूक नहीं। मुहल्ले में कितनी लड़कियों को उन्होंने पढ़ना सिखाया। कितनों को जानवर से आदमी बनाया। और इस पर भी एक पैसा किसी से नहीं लेना। सच पूछो, तो पुरुषार्थ इसी को कहते हैं। उनके मन में ज़रा भी इस बात का विचार नहीं कि अमुक व्यक्ति हिंदू है या मुसलमान? सबका एक ही प्रकार से सत्कार करती हैं। मैंने अपनी आँखों से देखा है कि मसजिद के कोई १५-२० परदेशी दोनों वक्त

रोटी पकवाने को आटा भेज देते हैं। अपने हाथों से सबका आटा गूँदना, पकाना और जो कुछ घर में मौजूद हुआ, रोटियों के साथ भेज देना। अक्सर ऐसा होता है कि अपनी तरकारी दूसरो को दे देती हैं और आप सूखी रोटियों में संतोष की चाशनी मिलाकर खा लेती हैं। बेचारे मुसाफिर अक्सर जुआर-बाजरे का आटा ले आते हैं। वह तो आप घर में रख लेती हैं और अपने घर से गेहूँ की रोटियाँ पकाकर भेज देती हैं। एक दिन बाजरे की रोटी—वह भी सूखी—बैठी खा रही थीं। कौर ठीक उतरता भी न था, हर कौर पर पानी पीने की ज़रूरत होती थी। इतने में मैं जो जा निकली, तो मुझको देखकर कहने लगी—"बेटा, मुझको बाजरे की रोटियाँ बहुत ही भाती हैं। यह बहुत सोंधी, मीठी और खस्ता होती हैं।" यहाँ तक मैंने देखा है कि निर्जला एकदाशी के बाद जो खाने बैठीं और कोई भूखा आ पहुँचा, तो अपने आगे का परोसा उसको दे देंगी और अपने को हो सका, तो चना ही खा लिया, नहीं तो वह भी नहीं। उनकी व्याख्या में कहाँ तक करूँ। इतने ही से अब तुम्हीं विचार लो कि रात-दिन मे कितने कार्य तुम धर्मानुकूल करती हो।

सुर्जी—एक बुढिया माई ऐसी हुई, तो इससे क्या? और किसी को बताओ।

श्यामा—चूँकि तुम ऐसे लोगों से डाह करती हो, उनके नाम

से चिढ़ती हो, इसलिये तुम्हें नही मालूम। नही तो इसी शहर मे कितनी ऐसी धर्मात्मा स्त्रियाँ पड़ी हैं। कहाँ तक उनके नाम गिनाऊँ? कोई कम, कोई ज्यादा। एक तो मेरी मा ही हैं। वह भी अपने मुहाल की बूढ़ी माई है।

सुर्जी—दो-चार ऐसे आदमी हुए सही, परतु बहुतों को तो अपने से भी गिरा पाती हूँ।

श्यामा—बहुत ठीक कहा। दुनिया में नेक कम हैं और बुरे बहुत।

सुर्जी—मैं जानती हूँ, स्त्रियों के वास्ते बहुत पूजन तथा व्रत की कुछ आवश्यकता नही। उनका तो यही धर्म है कि घर का काम-काज देखें, बच्चों की खबरगोरी करें। उनको गृहस्थी के बखेड़ों से इतना अवकाश कहाँ कि पूजन किया करें। मर्द, जिन्हें न खाने-पकाने की चिता, न बच्चों का झगड़ा, जितनी चाहें वंदना करे।

श्यामा—मर्दों के कमाने का थोड़ा काम है? बेचारे दिन-भर उसमें लगे रहते हैं! मुहल्ले के ठठेरों को देखो। मुँह-अँधेरे से जो खटाखट शुरू करते हैं, तो आधी रात तक कान पड़ी आवाज नही सुनाई देती। फिर भी ईश्वर-वंदना का जितना ध्यान मर्दों को है, स्त्रियों में उसका एक चौथाई हिस्सा भी नहीं।

सुर्जी—तुम चाहे कुछ कहो, स्त्री-पुरुष की बराबरी तो कदापि न होगी। ईश्वर ने स्त्रियो के सिर काम का बोझ ज़रूर थोड़ा रक्खा है।

श्यामा—कारण ?

सुर्जी—भला कहीं निगोड़ी औरतो से मिहनत हो सकती है ?

श्यामा—ईश्वर-वदना मे न छप्पर उठाना है, न लकड़ियाँ ढोनी हैं, औरतें कमज़ोरी सुकुमारी का हीला कर सकती हैं। बल्कि एक हिसाब से इन्हे ईश्वर-वदना खूब करनी चाहिए। क्योंकि स्त्रियों को पहले तो इस कार्य के लिये काफी समय मिलता है, दूसरे ईश्वर के श्रेष्ठ पदार्थों में स्त्रियो का भाग अधिक है। खाने-पीने मे मर्द-औरत सब बराबर, कपड़े में मर्द बेचारे एक हिस्सा, तो औरते वैसे-वैसे दस। न औरतों की एक धोती, न मर्दों के साल-भर के कपडे। सबसे बढ़-कर तो बात यह है कि इनकी (स्त्रियो की) धोतियाँ मामूली न हो, जब देखो, तो साड़ी ही झलका करती है। चाहे जिस तरह के कपड़े यह पहने, मर्दों से कहीं अधिक कीमती होते हैं। दूसरे यह कि गहना। इसके लिये तो स्त्रियाँ मरी जाती हैं। जब सुनो, तो गहने ही की बात होती रहेगी। मर्द बेचारे पहनें भी तो एक हाथ मे छल्ला, नही तो वह भी नहीं। परतु

अपनी स्त्री को जरूर गहनों से लाद देंगे, चाहे कैसी ही हो। क्या करें, बिना इसके स्त्रियाँ पानी तो पीने ही नहीं देतीं। इस पर भी यदि स्त्रियाँ ईश्वर को धन्यवाद न दें, तो वही कहावत होगी कि "खाने को जच्चा और काम को नन्हा बच्चा।"

सुर्जी—अफसोस है कि तुम हमारी मा के यहाँ न पैदा हुईं।

श्यामा—इसमें अफसोस की क्या बात है? बताओ कि तुमने क्यों ऐसा कहा?

सुर्जी—मैंने तो यह समझकर अफसोस किया कि तुम हमारी मा के यहाँ हुई होतीं, तो दोनो को अच्छा था। वह तुम्हारी ही जैसी बेटी ढूँढ़ती हैं, और तुम भी अमीर घर पातीं, तो खाना, कपड़ा, जेवर, नौकर सभी तरह की खुशी थी।

श्यामा—यदि इस खुशी का यही नतीजा है कि आदमी ईश्वर को भूल जाय, तो मेरे नजदीक ये तमाम चीजें इस लोक की जजाल और परलोक की बवाल हैं। कौन चार दिन की खुशी के लिये हमेशा की मुसीबत मोल ले? मुझको परमात्मा की दया से पेट भरने को सूखी रोटी, तन-बदन ढाँकने को मोटा कपड़ा, रहने को झोपड़ी, लेटने को चटाई, पीने को पानी, दम लेने को हवा, सब कुछ मयस्सर है। मैं

नहीं जानती कि ससार मे मुझको और कोई वस्तु दरकार है। सिवा इसके कि तुमने पत्थर अर्थात् सोना-चाँदी मुझसे अधिक अपने ऊपर लाद लिए है और बोझ के कारण कान तुम्हारे कटे पड़ते हैं, नाक तुम्हारी छे गई है, और तो कोई अतर मैं तुमसे और अपने मे नही पाती। मैं यह नहीं कहती (ईश्वर न करे) कि तुमको भोजन को तकलीफ है, मगर सूरत तुम्हारी यह है कि बदन पर बोटी नहीं, हाथ-पावों में जान नहीं। जब देखो, डॉक्टर-वैद्य की ही जरूरत पड़ी रहती है। मुझे देखो, ईश्वर की कृपा से तुमसे दूनो नहीं, तो ड्योढ़ी में शक नहीं। एक हाथ से तुम्हारे दोनो हाथ पकड़ लूँ, तो श्रीमती हिला भी न सकेगी।

सुर्जी—बीमारी भी अमीरों का पदक है। निगोड़े भूखे, जिनकेपेट को रोटो मयस्सर नहीं, वह क्या बीमार पड़ेंगे।

श्यामा—यहाँ पदक और पारितोषिक को बात नहीं, सुख और दुःख की बहस है।

सुर्जी—जी तो खुश कर लो। लोमड़ी को जब अंगूर नहीं मिलते, तो वह उनको खट्टा कहा करती है।

श्यामा—अपनी-अपनी समझ ही तो है। तुम मुझे जानती हो कि यह तकलीफ में है और मैं कहती हूँ कि तुम ऐसे दुःख में फँसी हो कि ईश्वर शत्रु को भी न दे। खाने-पीने के जो

सुख तुमको मयस्सर हैं, उनका नतीजा तो यह है कि तुम सदा को दुखिया और हमेशा की रोगो बन रही हो। रहा कपडा, सो तुम्ही उसको पहनकर अपने जी मे खुश होती होगी। अभी मौसा या बड़े भाई आ जायँ, तो सिवा इसके कि तुम उनके सामने से हट बैठो और क्या तदबीर है? रहा जेवर, जिसका घमड ऐसा कि अपने कर्तव्य का भी ध्यान नहीं, इससे तो हथकड़ी-बेड़ी अच्छी हैं। बड़ी खुशी प्रेम और मेल-मिलाप की होती है—उसका यह हाल कि तुम मा से बुरी, चुन्नो की दुश्मन, सास-ससुर से विगाड़, पति से विरोध, नौकर दया से हीन, लौंडियाँ बिलबिलाती, क्या इसी पर तुम अपने को सुखी समझती हो? अभी तुम पड़ी रो रही थीं या हँस रही थीं?

सुर्जी—तुम्हारी बुद्धि तो चरने गई है। क्या घरों में कभी लड़ाई नहीं होती? चार बरतन पास रख देते हैं, तो वह भी कभी-न-कभी खुड़खुड़ा उठते हैं।

श्यामा—यदि इतना ही समझती, तो इतनी बात का बत-गड़ न बनाती।

सुर्जी—मैंने क्या बात का बतगड़ बनाया?

श्यामा—तुम्हीं अपने दिल में सोचो। माता के हाथ लगाने पर यह आपत्ति? सबेरे से अब तक आप भूखी मरी, सारे

घर को भूखा मारा। शाबाश बहन शाबाश! लड़ो माता से, रूठो जगत्-पिता से!

सुर्जी—फिर तुमने ईश्वर का नाम लिया? मैं उनसे कब बिगड़ी?

श्यामा—क्यों, अन्न ईश्वर का है या माता-पिता का?

सुर्जी—देखो, यह घुमा-फिराकर बातें करनी मुझे पसंद नहीं। आखिर गुस्सा ही तो है।

श्यामा—तुम्हारा गुस्सा उधर बेजान पर, इधर बेज़बान पर।

सुर्जी—बेजान और बेज़बान क्या?

श्यामा—खाना बेजान और बेज़बान तुम्हारा बच्चा नादान। मैंने सुना है, तुमने उसका भी खूब कुचला किया है।

सुर्जी—किया तो किसी को क्या? अपना बच्चा शौक से मारा, खुशी से कुचला किया।

श्यामा—तुम अपने बच्चे को शौक से मारो और खुशी से कुचला करो, फिर मौसी ने होले से तुमको एक थप्पड़ मार दिया, तो क्या अनुचित हुआ? जैसी तुम अपने बच्चे की मा, वैसी ही वह तुम्हारी मा।

सुर्जी—मा-मा बराबर, लेकिन बच्चा-बच्चा बराबर नहीं।

श्यामा—अच्छा, यह तो बताओ, इन दोनो में दया का पात्र कौन है ?

सुर्जी—मैं।

श्यामा—वाह रे मैं ! जरा मुँह धोलो, मुँह !

सुर्जी—देखो, बड़ों के साथ बेअदबी ठीक नहीं।

श्यामा—बड़ों ने की, तो छोटों ने सीखी।

सुर्जी—अजी वह मुझ पर कुछ भी दया न करें। ईश्वर मालिक है।

श्यामा—क्यों झूठ बोलती हो ?

सुर्जी—बस, कुछ कहना, झूठी न कहना। इसकी मुझको बड़ी चिढ़ है। जो कोई मुझको झूठी कहता है, तो मेरे तन-बदन में आग ही फुँक जाती है।

श्यामा—भला फिर तुम ईश्वर को मालिक समझती हो, जो कहती हो ?

सुर्जी—कोई ऐसा भी मनुष्य है, जो ईश्वर को मालिक नहीं समझता ?

श्यामा—यदि ईश्वर को मालिक समझती, तो ऐसी अनुचित बात कहतीं, जिस पर मौसीजी ख़फ़ा हो जातीं ?

सुर्जी—क्या मैंने जान-बूझकर थोड़े ही कही थी ? मुँह से निकल गई।

श्यामा—परन्तु मौसा की शान के विरुद्ध तो तुम्हारे मुँह से कभी ऐसी बात नहीं निकलती। वह तो खैर पिता ही ठहरे, यदि बड़े भाई को भी ऐसे वचन कहो, तो कितना बुरा लगे। क्या ईश्वर को बुरा नहीं लगा होगा ?

यह सुनकर सुर्जी डरी और हौले-हौले अपने मुँह पर तमाचे मारे, और कान पकड़े कि फिर ऐसा कभी न होगा।

श्यामा—बस समझ लो कि ऐसा ही एक तमाचा मौसी ने मारा।

सुर्जी—तो क्या मैं कुछ कहती हूँ या मैंने कुछ कहा है ?

श्यामा—सब कुछ कह लेतीं, तो तुम्हारे इस कोप की अपेक्षा अच्छा होता।

सुर्जी—क्या ?

श्यामा—यही कि सारे दिन घर को भूखा मारा। बच्चा तमाम दिन दूध को फड़का किया। गुल्बी बेचारी दालान में पड़ी कराह रही है। न-जाने कहाँ कुठौर उसके लात लगी है कि अबतक साँस पेट में नहीं समाई। इस पर कहती हो क्या ?

सुर्जी—खैर, फिर अब तो कुछ होना था, हो चुका।

श्यामा—हो तो नहीं चुका, हो रहा है। एक ओर लोग भूखे बैठे हैं, दूसरी ओर लड़का फड़क रहा है।

सुर्जी—अच्छी ! यह भी जबर्दस्ती है कि मारूँ और रोने न दूँ !

श्यामा—तुमको इतनी बड़ी होकर रोने का नाम लेते लज्जा नहीं आती ?

सुर्जी—मार खाने में लज्जा न आई, तो रोने में क्या आवे ?

श्यामा—संसार में माता से बढ़कर और कोई नहीं। इनकी मार आशीर्वाद-तुल्य है। इसमें बेइज्जती कैसी ?

सुर्जी—तुमको मार पड़ी होती, तो यह सब तर्क-वितर्क भूल जातीं।

श्यामा—क्या मैंने मार नहीं खाई है ?

सुर्जी—अब बड़े हुए पर ?

श्यामा—अब मैं कोई बात ही ऐसी नहीं करती जो उनकी मति के विरुद्ध हो।

सुर्जी—मैंने भी तो यह समझकर नहीं कहा था कि मा को इतना बुरा लगेगा। देव-पूजन का विचार पहले तो उनके मस्तिष्क में आया ही न था।

श्यामा—परन्तु मौसी जब तुम्हें पचासों बार मना कर चुकी थीं, तो तुम्हें फिर वैसा नहीं करना था।

सुर्जी—क्यों जी, यदि ईश्वर को मेरी बात बुरी लगती, तो जो कुछ होना था, उसी समय हो न चुकता ?

श्यामा—पहले यह तो बताओ कि बात बुरी और अनुचित थी या नहीं ?

सुर्जी—मान लो बुरी ही सही, तो ?

श्यामा—मानना कैसा ? जिस बात को तुम भाई के विरुद्ध क्या, एक अदने के विरुद्ध नही कह सकती थीं, वह तुमने परमात्मा के विरुद्ध कही और उस पर भी उसकी दया देखकर शर्म नहीं आती कि उसने इसका बदला कुछ भी नहीं लिया, बल्कि तुरत सज़ा न मिलने से हर्षित होती हो ? इसी को नास्तिकता कहते हैं। देखो, ईश्वर की लाठी में आवाज़ नहीं होती, न-जाने किस रूप मे वह बदला ले।

सुर्जी—मा मुझे एकांत मे मार लेतीं, तो मुझे इतना क्रोध न आता। अच्छा, फिर अब तुम्हारी मर्ज़ी क्या है ?

श्यामा—मर्ज़ी यह है कि चलकर मौसी के सामने हाथ जोड़ो, उनके पाँव पड़ो। अपनी करनी के लिये क्षमा माँगो, स्वयं भोजन करो और दूसरों को करने दो; बच्चे को दूध पिलाओ, चुन्नी को बुलाकर गले लगाओ, गुल्बी को उठाकर मनाओ।

सुर्जी—लो और सुनो, उल्टा चोर कोतवाल को डाटे। एक तो मेरा दोष ही नही, दूसरे मैं हाथ जोड़ूँ ? न आज तक किसी के आगे सिर झुकाया है, न जीवन-पर्यंत झुकाऊँगी। ईश्वर न करे, किसी के आगे सिर झुकाना पड़े। रही चुन्नी, तुम कहती हो, गले लगाओ, मेरा वश चले, तो जीती न छोड़ूँ। और भोजन को जो तुमने कहा, तो मुझको अब इस घर का

नमक तक भी चखना हराम है। तात्पर्य, जितनी बातें तुमने कहीं, सोचकर ऐसी ही कही कि एक भी मुझसे नहीं हो सकती। अस्तु, तुम्हारे कहने से नन्हे को दूध पिला दूँगी। जाओ ले आओ, नहीं तो मेरी तो यही प्रतिज्ञा थी कि उसका और अपना दोनो का खून करूँ।

श्यामा—राम-राम! बहन, मैं नहीं जानती थी कि तुम इस तरह जहर की बुझी हो।

सुर्जी—मेरा स्वभाव तो सदा ही से ऐसा है। मुझसे किसी की भी बात नहीं सही जाती।

श्यामा—अब तुमसे अधिक कहना व्यर्थ है। बस, मालूम हो गया कि तुम अपनी मनमानी हो।

सुर्जी—जो बात करने की थी, वह तो मैंने पहले ही कह दी कि नन्हे को दूध पिला दूँगी।

श्यामा—सारा दिन तो निर्जल बीता। अब दूध कहाँ रहा कि उस बच्चे को पिलाओगी?

सुर्जी—रहे या न रहे। मगर मैं इस घर का अन्न खाऊँ, तो..

श्यामा—बस रहने दो। बहुत किया। भला न खाओगी, तो करोगी क्या? एक ही दिन में कल्ला बैठ गया, आँखें धँस गईं। अब रात को खाली पेट नींद भी नहीं आने की।

सुर्जी—मैं तो जाने को तैयार बैठी हूँ। तुम न आ जातीं, तो अब तक कभी की चली गई होती।

श्यामा—कहाँ ? ससुराल ?

सुर्जी—यदि मैं ससुराल जाऊँ, तो गड्ढे से निकल कुएँ में गिरूँ।

श्यामा—फिर कहाँ ?

सुर्जी—जहाँ सींग समाएँ।

श्यामा—बावली हुई हो ? कैसी बातें करती हो ? यदि मौसी यह बात सुन पावें, तो न-जाने कौन मुसीबत ढावें, घर से बाहर पैर रखना तो बड़ी बात है।

सुर्जी—तुम क्या समझी ? मैं इस पड़ोसिन के घर जाने को कहती थी। क्या उसके यहाँ मैं कभी नही जाती थी ?

श्यामा—वह जाना और है और यह घर से बिगड़कर बाहर बिना कहे पैर रखना दूसरी बात है। खबरदार, ऐसी बात भूलकर भी मुँह से न निकालना। नहीं मालूम क्या-से-क्या हो जायगा। और, ख़ुद पड़ोसिन, जिनके बिरते पर फूली हो, तुमको अपने द्वार के अंदर पैर तो रखने देने ही की नहीं। चाहो जाकर देखो, और मान लो कि तुम यहाँ से निकलने पाई और पड़ोसिन पर भी सनीचर देव सवार हों कि वह तुम्हे अपने घर में शरण दें, तो जब उनको स्वयं भोजन दोनो जून मिलता ही नहीं, तो तुमको कहाँ से खिलाएँगी ?

सुर्जी—नौज ! मैं उनके यहाँ क्यों खाने लगी ? क्या मेरे पास गहने नहीं ? अभी पिटारी में कुछ नहीं, तो चालीस-पचास रुपए पड़े होंगे।

श्यामा—गुड़ खाऊँ, गुलगुलों से परहेज। जिनका अन्न, उन्हीं के बनवाए हुए गहने, उन्हीं के दिए हुए रुपए। आन तो हम जब जानें कि उनको चीज भी न छिकवाओ। और पड़ोसिन, पहले तो मैं हैरान हूँ, तुमको निबाहती तो कहाँ बिठातीं ? कुल्हिया-जितना घर, उसमें भी एक आप, दूसरे उनके पति, तीन बेटे, बहुएँ, उनके बच्चे, दो बेटियाँ पाहुन आई हुई हैं। उनके घर में तिल रखने की जगह तो है ही नहीं ; बेचारी आप तो ड्योढ़ी में चारपाई बिछाकर सोती हैं। तुमको रात्रि में कहाँ लेटातीं और कहाँ सुलातीं ? भला तुम्हें पराए मर्दों में जाते शर्म न आती ? फिर पड़ोसिन तुमको शरण देतीं भी तो मौसी ही का आश्रय करके। बलिहारी है तुम्हारी बुद्धिमत्ता पर। इससे तो अच्छा था कि अपनी ससुराल चली जातीं।

सुर्जी—न ससुराल जाऊँ, न यहाँ खाऊँ।

श्यामा—तुमको अधिकार है, जो चाहो सो करो, लेकिन लड़ाई तुम्हारे खाने पर हुई है।

सुर्जी—खाने पर तो लड़ाई नहीं हुई। किंतु यों मैं इनके घर पर पड़ी न होती, तो भला किसका मुँह था, जो मुझे

ऐसा कहता और किसकी शक्ति थी, जो मुझ पर हाथ चलाता ?

श्यामा—करतीं क्या ?

सुर्जी—कोई एक लगाता, तो मैं चार जमाती।

श्यामा—बुरा मत मानना। जब यही विचार है, तो घर में बस चुकीं। मा का यह सम्मान ? यदि मेरी माता मुझे बिना किसी अपराध के पचास जूतियाँ भी मारतीं, तो भी उनके सामने आँख तक न उठाती। धन्य हो तुम और धन्य तुम्हारे भाग्य। विद्या तो जो है, सो है। सदाचार से भी हाथ धो बैठीं। मैं तो ईश्वर से यही प्रार्थना करती हूँ कि वह तुम्हें इतनी बुद्धि दे कि तुम इन्हीं बातों को अपने घर के उजाड़ के कारण समझो। मुझको यही आश्चर्य है कि तुम्हारी आत्मा ने क्योंकर इन बातों को स्वीकार किया कि मौसी को तुम्हारा रहना बोझ मालूम होता है, और उन्होंने इस वजह से तुम्हारे साथ सख्ती की कि वह तुमको अपने पास देख नहीं सकतीं ? भला संसार में कोई माता इस प्रकार की होगी ? तुम्हारी बरबादी का दुःख जितना उनको है, तुमको नहीं। जरा भी इसकी चर्चा चली कि आँसू की धारा निकल पड़ती है। वह तो सदैव तुम्हें आशीर्वाद देती हैं, तुम्हारे लिये ईश्वर से प्रार्थना करती हैं और तुम उन्हें अपना वैरी

समझती हो ! भला तुम्हीं न्याय करो कि सिवा इस बात के तुमने और किसी बात पर उनको विमुख होते देखा है ? भोजन पहले वह तुम्हें करा के, तब अपना करती हैं ; मैंने पद्रहियों रहकर देखा है कि मौसा और बड़े भाई तक को सादी चपातियाँ मिलती हैं और तुम्हारे दो पराठे उन्होंने नागा नहीं होने दिए। चार आने रोज़ का सौदा जो तुम्हारा बँधा है, तुम्हीं बताओ, कभी नहीं भी दिया है ? एक दिन चुन्नी ने ज़िद की थी और कहा था कि मैं भी चार आने लूँगी, तो झिड़क दिया कि हाँ अब तू बड़ी बहन की बराबरी करेगी। आठवें दिन की मेहँदी, महीने-के-महीने चूड़ियाँ, तुम्हीं यालो, यह नियम कभी भी टूटा है ? लोग ऐसे कपड़े दहेज में भी नहीं देते, जो वह तुमको घर में पहनाती हैं। भला वे पट्टू का दुपट्टा, वे लैस की कुर्तियाँ, वे गोटे की साड़ियाँ कभी तुमको पहनना याद है ? तेल, इतर, पान, फूल, मेहँदी, सुरमा, मिस्सी, लाखा, सेंदुर, टिकुली और उबटना यही औरतों के ज़रूरत की चीज़ें हैं—सच कहना, कभी तुमको इनमें से किसी चीज़ के माँगने की ज़रूरत हुई है ? हर सेवा के लिये अलग-अलग दासियाँ मौजूद हैं, लड़के खिलाई अलग ; मगर सच पूछो, तो अविवाहिता अवस्था की अपेक्षा इस समय तुम्हारा सम्मान कहीं अधिक हो रहा है। एक दिन तुम्हारे दुपट्टे में नई टाँक

रही थी और मौसा के क़बा में बंद टाँकने थे। कचहरी जाने को देर हो रही थी। उस पर मौसा ने कहा कि "लड़की का डुपट्टा रहने दो, फिर हो जायगा, पहले मेरे क़बा से बंद टाँक दो।"

मौसी—वाह ! लड़की सिर खोले बैठी है, आपको ऐसी क्या जल्दी पडी है ? अभी तो धूप भी चबूतरे से नहीं उतरी।

मौसा—क्या सादा डुपट्टा ओढ़ना मना है ?

मौसी—वह बेचारी क्या कुछ कहती है ?

मौसा—तो तुम अपनी ही तरफ से ख़ैरख्वाही जमा रही हो ?

मौसी—भला मैं किस योग्य ठहरी। मगर तो भी यथा-शक्ति किए जाती हूं। मुझको हर वक़्त इसी बात का ध्यान रहता है कि इस समय उसका हृदय दुखी है, कहीं ऐसा न हो कि किसी वस्तु को उसका दिल चाहे और वह लज्जा-वश मुँह न खोले और अरमान जी-का-जी ही में रह जाय। समझने की बात है कि यदि मौसी को तुमसे शत्रुता होती, तो स्वयं भोजन कर लेती। क्या जरूरत थी, जो तुम्हारे साथ वह भी भूखी मरती ? क्या शत्रु का यही काम है कि उपवास में साथ दे और दुःख में भाग ले ? उस चुन्नी को, जिसे तुम कहती

हो कि पाऊँ तो मार-मारकर पुर्जे उड़ाऊँ, आज दिन-भर तुम्हारे वास्ते रोते बीता है। यह विषाद और इतना संतोष कि सवेरे से अब तक दाना उसके मुँह में नहीं गया! बेचारी ऐसी बेसुध पड़ी है कि जैसे शरीर में प्राण नहीं! इन लोगों का वह हाल, और तुम्हारी यह दशा? एक ज़रा-सी बात में तुम्हारा हृदय इतना कठोर हो गया कि सारी नेकी बरबाद, कुल सुलूक अकारथ, सारा उपकार निरर्थक? फिर भला तुमसे कोई क्या आशा रक्खे?

सुर्जी—भई यह बात तो तुम्हारी उचित है कि हमेशा से मा मुझको बहुत चाहती हैं, लेकिन परमात्मा जाने, उनको क्या हो गया था कि बेसमझे मार बैठीं!

श्यामा—अच्छा, यों ही समझो कि आदमी ही तो हैं, उन्हीं से ज़्यादती हुई। किंतु क्या यह न्याय है कि इस ज़्यादती के कारण उनके जीवन-पर्यंत की दया, प्रेम, कृपा, स्नेह, पालन-पोषण, उपकार इत्यादि पर एकदम से पानी फेर दिया जाय?

सुर्जी—मुझको रह-रहकर उनका थप्पड़ याद आता है।

श्यामा—इस वास्ते कि इसमें तुम्हारा ही दोष था।

सुर्जी—क्या मा ने तुमसे कहा है कि समझा-बुझाकर सुर्जी को क्षमा माँगने के लिये लिवा लाओ?

श्यामा—कदापि नहीं! उनको इस बात को क्या पड़ी है। इसमें तो तुम्हारी ही हानि है। और यदि शायद यह बात उनके दिल में आई भी हो, तो तुम्हारे स्वभाव को देखकर उनको यह आशा हो सकती है कि तुम अपने दोषों को स्वीकार करोगी और इनके लिये क्षमा माँग सकती हो?

सुर्जी—भला जो मैं गई और मा मुँह से न बोलीं, तो मुझको और लज्जित होना पड़ेगा।

श्यामा—संभव है, न बोलें; क्योंकि तुम्हारे दोष साधारण न थे। मगर फिर वह माता हैं, और वह भी कैसी? सब बच्चों से तुमको बढ़कर माननेवाली, तुम्हारे सुख के लिये प्राण अर्पण करनेवाली। मेरा दिल तो कहता है कि शायद तुमको कोठरी से निकलते देख वह स्वयं आकर लिपट जायँ और तुम्हें गले लगा लें और तुम्हें कुछ कहने की नौबत ही न आए।

सुर्जी—जी में तो आता है कि जाऊँ, चली भी जाऊँ, परंतु लज्जा आती है। भला कल पर रक्खें, तो कैसा हो?

श्यामा—तुमको जरा भी ईश्वर का भय नहीं कि सारा घर तुम्हारे कारण उपवास करे, और तुम चुप बैठी रहो? रात-भर में तुम्हारी और उनकी क्या गति होगी?

सुर्जी—भाई हाथ जोड़ने को तो रहने दो और भोजन भी अपने नाम से मँगवा लो।

श्यामा—अजी मुझसे कहो, तो मैं खाने को भी रहने दूँ। भूखो मरोगी तुम या तुम्हारी मा-बहनें? परंतु ऐसे भोजन में कुछ आनंद नहीं—इधर तुम्हारा हठ और उधर उनकी कचोट, भोजन भला कभी उतर सकता है? बस, इतनी देर की बात है कि तुम कोठरी के बाहर तक चलो।

सुर्जी—भाई बस अधिक हमें दिक मत करो। भोजन मँगवाओ, मैं खा लूँगी।

श्यामा—हो तुम अपनी जिद की। भोजन करोगी, तो एहसान किस पर? कोठरी के बाहर तक चलो, तो अलबत्ता मैं जानूँ कि तुम मेरा दिल तोड़ना नहीं चाहतीं।

सुर्जी—चलो बस मुझको बच्चों के समान न फुसलाओ। यह भी तुम्हारी खातिर है कि मैं मान गई, नहीं तो सुर्जी इधर की दुनिया उधर हो जाती, एक की तो सुनती ही नहीं।

श्यामा—पत्थर मान गई! मैं इसको मनना-मनाना नहीं समझती। क्या करूँ, रात्रि अधिक बात चुकी है और लोग भूख से बदहवास हैं, नहीं तो मैं दिखा देती, तुम्हारा यह कहना कि "मैं किसी की न सुनती", इसका भी मजा चखा देती। मेरा तो यह मतव्य है कि चाहे कोई नीच-से-नीच क्यों न हो, यदि अच्छी और हित की बातें कहे, उन्हें अवश्य माननी चाहिए।

जब बातें वाजिब हैं, तो फिर उनके मानने मे आपत्ति ? इस समय की बात याद रखना कि मौसी के सामने चलकर हाथ जोड़ने पड़ेंगे।

सुर्जी—खैर जब पड़ेंगे, तो जोड़ लेंगे।

इसके पश्चात् श्यामा कोठरी से निकल दूसरे खंड में इंदुमती के पास गई। बहुत-से लोग सो गए थे, कुछ ऊँघ रहे थे। इंदुमती अलग बैठी हुई दिल-ही-दिल में नहीं मालूम क्या बातें कर रही थी कि श्यामा जाते के साथ ही बोली—"मौसी, अहोभाग्य मेरा और सुर्जी बहन का, भोजन परोस दो।" इंदुमती सुनते के साथ चौंक पड़ी और कहने लगी—"सच कहना श्यामा !"

श्यामा—तुम स्वयं उनको खाते हुए देखो, तब तो सही ?

इंदु०—श्यामा, तुमने गोवर्द्धन उठा लिया। क्योंकर मनाया, कैसे समझाया ? मुझे तो आशा न थी कि वह किसी प्रकार से सीधी होगी। उसका क्रोध, ईश्वर ही बचावे, जैसे किसी पर जिन्न चढ़ता है। नहीं मालूम तुमने कौन-सा मंत्र पढ़ा कि ऐसे भूत को उतारा। हम सब लोग तो दिन-भर हलाक हुए, कोई भी उपाय न चला। लाख सिर पटका, परंतु कुत्ते की दुम सीधी न हुई।

श्यामा—मैं तो उनको यहाँ तुम्हारे पास लाती और तुम्हारे

पाँवों पर उनका सिर रखवाती, लेकिन क्या करूँ, रात्रि अधिक बीत चुकी है और लोग भूख से बेचैन हो रहे हैं। कल फिर देखा जायगा। लाओ, भोजन निकालो, जाऊँ, चुन्नी को भी जगाऊँ। भोजन बिना न-जाने उसकी क्या दशा होगी?

इंदुमती ने भोजन ठीक कर दिया और इधर श्यामा ने चुन्नी को भी जगाया। चुन्नी सोती क्या थी, कमज़ोरी के कारण बे-सुध पड़ी हाथ-पाँव तोड रही थी। श्यामा की आवाज़ सुनते ही आँख खोलने से पहले उठ खडी हुई और बडी बहन को प्रणाम किया। श्यामा ने प्यार से गले लगा, गोद में ले लिया और कहा—"क्यों चुन्नी, अभी तो बहुत सवेरा है, अभी से सो रहा करती हो?"

चुन्नी—मा के साथ सायकाल की ईश्वर-स्तुति करके सो रहती हूँ।

श्यामा—तुमने कुछ भोजन भी किया?

चुन्नी इस बात पर शर्मा गई और सिर झुका लिया।

श्यामा—क्यों, भूख लगी है?

चुन्नी ने इसका भी कुछ उत्तर न दिया।

श्यामा—चलो हमारे साथ भोजन करो।

चुन्नी—मा ने भोजन किया?

श्यामा—वह भी तुम्हारे साथ भोजन करेंगी।

चुन्नी—और हमारी बड़ी बहन ?

श्यामा—तुमको दुनिया जहान से क्या मतलब ? जिसको भूख लगी होगी, आप खा लेगा।

चुन्नी—ऐ ऐ ! बहन न खाएँ और मैं खा लूँ ? यह तो मुझसे नहीं हो सकता। अच्छा, मैं तुमसे विनती करती हूँ, जाओ और किसी तरह उन्हे मना लाओ। सारा दिन बिना अन्न-जल के बिताया है। नन्हा दूध के लिये फड़क-फड़ककर आखिर सो गया।

यह कहकर चुन्नी रोने लगी। इसकी यह दशा देखकर श्यामा भी न रुक सकी। आँसू पोछते हुए उसने चुन्नी को बहुत समझाया और ढाढ़स दिया कि उठो, सुर्जी बहन भी साथ ही भोजन करेंगी। तात्पर्य यह कि कोई डेढ़ पहर रात गए सबने भोजन किया। श्यामा और सुर्जी ने एक साथ कोठरी में, और बाक़ी सब लोगो ने चौके मे। खाने के बाद सो-सुला रहे। परंतु खाने के बाद भी श्यामा और सुर्जी मे कुछ बाते होती रहीं। सुर्जी ने अपनी ही बात छेड़ी—"क्यों श्यामा, अब तो तुम संतुष्ट हुई ? जो कुछ तुमने कहा, मैंने वही किया।"

श्यामा—संतुष्ट तो मैं तभी होती कि जब सफाई हो गई होती।

सुर्जी—अच्छा ! अब भी सफाई में कुछ बाक़ी रह गया धीरे-धीरे दस-पाँच दिन में बोल-चाल भी शुरू हो जायगा।

श्यामा—दस-पाँच दिन ?

सुर्जी—और क्या कल ?

श्यामा—अभी थोड़ी देर हुई कि तुमने आप ही कहा था-"कल पर रक्खो।"

सुर्जी—मैंने यह तो नही कहा कि मैं कल बोलने लगूँगी।

श्यामा—तब सफाई क्या हुई पत्थर ?

सुर्जी—खाना मैंने खाया, मा ने खाया, चुन्नी ने खाया, नन्हा देखो दूध पी ही रहा है। इससे बढ़कर सफ़ाई क्या होगी ?

श्यामा—खैर, मेरी जबर्दस्ती से तुम सबने एक-एक दो-दो कौर खा लिए। मैं इसको खाना नहीं समझती। दूध पिलाने-वाली औरत भला कुछ न खाय तब भी चार चपातियाँ तो खाय। तुमने पाव टुकड़ा भी नहीं खाया। चावलों को हाथ नहीं लगाया। तुम्हारे कारण मैं भी भूखी उठ खड़ी हुई। मैं समझती थी कि खैर सवेरे इसकी कसर निकल जायगी, सो तुमने अभी से निराश कर दिया।

सुर्जी—सच तो यह है कि इस घर से मुझको अपना

"गुज़र होता हो", मालूम नहीं होगा, और अब मेरा जी लगना भी कठिन है।

श्यामा—क्यों ?

सुर्जी—मैंने तुमसे कहा नहीं कि यहाँ तो एक-दो महीने पहले से पिता का स्वभाव, मा के तेवर, घर का रंग-ढंग सब कुछ बदला हुआ है। बकरे की मा कब तक ख़ैर मनाएगी ? जब बड़े भाई तक नौबत पहुँच गई, तो भला मैं बेचारी किस गिनती में ? ईश्वर इनकी रक्षा करे ! वह एक तो मर्द, दूसरे सबमें ज्येष्ठ, तीसरे ईश्वर की कृपा से स्वतंत्र हैं—किसी के आगे हाथ फैलाने को उन्हें आवश्यकता नहीं। आज अलग हो जायँ, तो उनके पुलाव के थाल कहीं गए नहीं हैं। जिस रजवाड़े में जा खड़े होंगे, अपनी विद्या और गुणों से अच्छी-से-अच्छी नौकरी पा सकते हैं। मैं हतभागिनी एक तो पर्दे में बैठनेवाली, दूसरे ऐसी कोई कला भी नहीं जानती कि चार पैसे का सहारा हो। यह क्या मालूम था कि मुझे एक दिन अपने जीवन का भार स्वयं उठाना होगा, नहीं तो आँखों देखते-देखते साथवाली लड़कियाँ कैसे-कैसे काम सीख गईं कि अपनी कला की बदौलत घर बैठी राज कर रही हैं। मुझको कहीं अपना ठिकाना नहीं दीख पड़ता। मा-बाप के घर ऐसी पड़ी हूँ, जैसे गली में कुत्ता। किसी ने टुकड़ा डाल

दिया, तो खा लिया, नहीं तो मेरा क्या वश ? पिताजी पहले ही से कुछ संबंध और सरोकार नहीं रखते, लड़कियों से बोलने और बात करने की आदत नहीं। मा का एक सहारा था, सो उन्होंने यह जबर्दस्ती शुरू की, अब ईश्वर ही उनके हाथों को रोके, तो रुके, नहीं तो छूटा तो है ही।

श्यामा—सखी, तुम इस प्रकार उदासीन क्यों होती हो ? क्या देव-पूजन कोई ऐसा बड़ा कठिन काम है, जिसके कारण तुम्हे ऐसे विकट विचार सूझ रहे हैं ?

सुर्जी—श्यामा, मैं तो हँसी-दिल्लगी की आदमी हूँ, मुझसे यह ऊँघती उदास जिंदगी नहीं निबहने की। लड़ाई तो खैर आज हुई है, मेरा तो कई दिन से जी ऊब रहा था।

श्यामा—फिर आखिर तुमने कौन-सा उपाय सोचा है ?

सुर्जी—एक बात मेरे दिल में आती है। वह यह है कि मैं तुम्हारे घर चली चलूँ।

श्यामा यह सुनकर चुपकी हुई और देर तक चुप रही, तो सुर्जी बोली—"तुमने तो सुनकर वह दम खींची कि जिसका ठिकाना नहीं। ऐसा मालूम हुआ कि सचमुच मैं तुम्हारे घर जा रही हूँ। डरो मत, मैं तो तुम्हारी मुहब्बत की परीक्षा कर रही थी, नहीं तो भला मैं किसी का एहसान क्यों उठाने लगी ?"

श्यामा—यह तो तुमने कोई निराली रीति सीखी है—केह

छेड़कर लड़ना। घर जैसे मेरा, वैसे तुम्हारा। जिनका घर है, मैं उनकी बेटी, तुम बेटियों से बढ़कर। जाओगी, तो तुम अपनी मौसी के घर जाओगी, एहसान उठाओगी, तो अपनी मौसी का। मैं तुमको ले जानेवाली कौन, और मना करनेवाली कौन?

सुर्जी—अच्छा, तो मैं पूछती हूँ, यदि मैं चली जाऊँ, तो मौसी क्या कहेंगी?

श्यामा—जो मैं कहती हूँ, जो तुम्हारी मा कहती हैं।

सुर्जी—अजी घर से तो न निकाल देंगी?

श्यामा—यहाँ तुमको घर से कोई निकाल रहा है, जो वहाँ से निकाल देगा? बहन, नहीं मालूम तुम अब कैसी बातें करने लगी हो। एक मा से क्या लड़ीं, सारे कुन्बे को शत्रु ठहरा लिया है।

सुर्जी—लेकिन मौसी बेचारी ग़रीब आदमी हैं, कहाँ से मेरा खर्च उठाएँगी?

श्यामा—अब ऐसी गई-गुज़री नहीं हैं कि महीना-बीस दिन तुमको नहीं रख सकती।

सुर्जी—महीना-बीस दिन कैसा? मैं तो जीवन-पर्यंत के लिये जाती हूँ।

श्यामा—ईश्वर न करे तुम सारी ज़िंदगी उन्हीं के घर

बिताओ। परमात्मा करे तुम्हारा घर आबाद रहे, फूलो-फलो, जिससे तुम्हारे माता-पिता के कलेजे ठंडे हों।

सुर्जी—मैं भी यही सोचकर जाती हूँ कि कुछ दिन तक वहाँ रहूँगी, तो मा को भी लड़ाई-झगड़े की बातें बिसर जायँगी। फिर बुलवा भेजेगी, तो चली आऊँगी।

श्यामा—मेरे नज़दीक भी जाने में कोई आपत्ति नहीं, परंतु इसके पहले अपनी मा की आज्ञा ले लेनी ज़रूरी है।

सुर्जी—क्योंकर पूछूँ?

श्यामा—यह भी कोई कठिन समस्या है? अभी उनके पास चली जाओ और जाकर कहो कि "मैं मौसी के यहाँ जाना चाहती हूँ, वह कह देंगी, अच्छा जाओ।"

सुर्जी—इतना काम तुम्हीं मेरे लिये कर दो।

श्यामा—नहीं, मैं नहीं करती।

सुर्जी—हमारी बहन नहीं?

श्यामा—नहीं, मैं बहन भी नहीं बनती। श्रीमती को इतना समझाया, इतना समझाया, मगर कुछ भी असर न हुआ।

सुर्जी—नौज कोई ऐसी कठोर-हृदया हो।

श्यामा—तुमसे भी बढ़कर?

सुर्जी—अच्छी मेरी बहन!

श्यामा—ख़ैर, मैं पूछ दूँगी, परंतु क्या तुम मौसी से चलती बेर बिदा न होगी ? और उनसे न मिलोगी ?

सुर्जी—जब समय आवेगा, देखा जायगा।

श्यामा—सुनो, यदि तुम्हारे दिल में कोई और बात हो तो इसी दम कह दो। ऐसा न हो, मैं पूछने जाऊँ और तुम बेमिले चल दो। व्यर्थ मुझको लज्जित होना पड़ेगा।

सुर्जी—नहीं, मैंने तुम्हारे छेड़ने को कहा था। भला ऐसा भी हो सकता है कि चलते समय मैं मा से न मिलूँ। जाओ पूछ आओ।

श्यामा—इस समय रात अधिक बीत गई है। सवेरे तड़के ही मैं उनसे कह दूँगी।

सुर्जी—चलना है, तो सूर्योदय के पहले ही चलना होगा।

श्यामा—क्या कोई सायत या लग्न टल रही है ?

सुर्जी—लग्न-वग्न नहीं। सवेरा हो जाने पर ठीक न होगा।

श्यामा—अच्छा, इस समय सो रहो, फिर देखा जायगा।

इसके बाद श्यामा और सुर्जी दोनों सो रहीं। अभी तारे छिटके हुए थे कि श्यामा उठी और सुर्जी को सोती छोड़ इंदुमती के पास गई और कहा कि "मौसी, अब मुझे आज्ञा दो, अब मैं जाऊँगी।"

इंदु०—ऐं ! इतनी जल्दी ?

श्यामा—दस-पंद्रह दिन बाद फिर आऊँगी।

इंदु०—ज़रा सुर्जी की बुद्धि ठिकाने पर आने दिया होता।

श्यामा—वह भी तो मेरे साथ जाने को कहती हैं।

इंदु०—सच कहो ?

श्यामा—मुझसे कह भी दिया है कि "तुम पूछ लो।"

इंदु०—उसी की मर्ज़ी है या तुमने राय दी है ?

श्यामा—उन्हीं की मर्ज़ी है।

इंदु०—भला कुछ यह भी कहती थी कि कितने दिन के वास्ते ?

श्यामा—दिन के बारे में तो मुझसे कुछ निश्चय रूप से नहीं कहा।

इंदु०—अच्छा, यदि नहीं कहा, तो मैं तुमसे कहे देती हूँ कि आठ रोज़ से अधिक न रखना। हमारी बहन बेचारी पर अधिक भार न पड़ना चाहिए।

श्यामा—अब जब उनका जी चाहे।

इंदु०—तुम लिए तो जाती हो, मगर इतना तो करना कि उसको भी अच्छी शिक्षा देना।

श्यामा—जहाँ तक मुझसे हो सकेगा, समझाऊँगी और उनको अच्छी-अच्छी शिक्षाओं को पढ़कर सुनाऊँगी। आशा तो है कि इसका प्रभाव अच्छा ही पड़ेगा।

इसके बाद श्यामा ने नौकरों से पूछा कि सवारी के लिये जो रात ही को कहला भेजा था, तैयार है ? मालूम हुआ कि सवारी तोप से पहले दरवाजे पर लगी हुई है। इस मंशा से कि सुर्जी को चलकर जगाएँ और आज्ञा की ख़ुशख़बरी सुनाएँ। श्यामा कोठरी की ओर चली। जाकर देखा, तो सुर्जी पलँग पर नहीं है। समझी कि बच्चे को दूसरे खंड मे हाथ-मुँह धुलाती होगी। मगर वहाँ भी उसे न पाया। मालूम हुआ कि जब श्यामा मौसी के पास जाकर बातें कर रही थी, सुर्जी चुपके से उठ, बच्चे को ले, खिड़की की राह होकर ड्योढ़ी में जा पालकी पर सवार हो बिना कहे-सुने प्रस्थान कर गई। अब क्या हो; डोली वापस मँगानी ठीक नहीं। लाचार श्यामा मौसी से आशीर्वाद ले, अकेली जाने लगी, तो इंदुमती ने कहा—"ऐ लड़की, ऐसी क्या भागड़ मची है ? सुर्जी को उठने दे, जलपान कर ले, तो जाना।"

श्यामा—वह तो चुपके चली गई। जिस समय मैं यहाँ आई थी, उसी समय रवाना हो गई। और गई भी, तो खिड़की की राह से, कोई देख भी न पाए।

इंदु०—श्यामा, देखा तुमने उसका गुस्सा ? कितना तुमने उसके साथ सिर मारा। मैं बाहर खड़ी हुई तुम्हारी बातें सुनती थी, लेकिन उसका यह परिणाम हुआ कि बिना कहे चल दी

भला कहीं ऐसा भी अधेर हुआ है कि बेटियाँ घर से इस तरह चुपके चली जायँ ? यदि मैं उसकी बातों पर जाऊँ, तो जीते-जी उसका मुँह न देखूँ, मगर क्या करूँ, यह अभागा दिल नहीं मानता। इसी स्वभाव के कारण इस गति को पहुँची, मगर जरा भी ध्यान नहीं, कुछ भी परवा नहीं। देखें, इसके भाग्य में क्या लिखा है ? इसी की चिंता मे तो मैं आधी हो गई।

इस पर श्यामा इंदुमती को बहुत समझा-बुझाकर रवाना हुई। हम सुर्जी को यहीं छोड़ते हैं। आगे क्या हुआ, फिर बयान करेंगे।

बारहवाँ परिच्छेद

होलिका के समान स्वाहा कर दिया

सुर्जीदेवी तो सबेरे गईं, परंतु गंगा रात ही को निकल खड़ा हुआ। जब श्यामा डोली से उतरी, लोग उससे मिलने-मिलाने में लग गए। इधर तो यह बात थी, उधर आँख बचाकर गंगा दरवाजा खोल बाहर हुआ। इतना भी न किया कि रात्रि का समय है, लाओ किसी से दरवाजे के वास्ते कहता जाऊँ। जब सुर्जी को भोजन जा लिया, सब घरवाले खा-पीकर निश्चिंत हो सो रहे। इंदुमती सोने के लिये जा रही थी कि एकाएक उसकी दृष्टि द्वार पर पड़ी। देखा कि बाहर का द्वार चौपट खुला पड़ा है। गंगा को इधर देखा, उधर ढूँढा, परंतु कहीं पता न चला। समझी कि अवसर पाकर चल दिया। परंतु उस समय न तो गंगा इस मंशा से गया था कि फिर न आए और न इंदुमती को ऐसा गुमान ही हुआ। रात अधिक बीत चुकी थी, ज्यादा बातचीत की चर्चा मुनासिब न जानकर सब लोग सो-सुला रहे।

अब सवेरा हुआ। तड़के ही जब शिवदत्तजी स्नान कर वापस आ रहे थे कि गली की नुक्कड़ ही पर सुर्जी और बाद

को श्यामा की पालकी मिली। गंगा के पिता इस अनुचित व्यवहार से तो रात-भर क्रोध में पड़े रहे, कभी-कभी तो यह भी दिल में आता था कि इसी समय चलकर जो कुछ इधर-उधर करना है, कर लें, परंतु किसी विशेष कारण से जहर का-सा घूँट पीकर चुप लगा गए, और बड़ी मुश्किल से इस बात पर अपने दिल को ठहराया कि दूसरे से कहलाने और पत्र लिखने का नतीजा तो देख लिया, अब एक मरतबा आमने-सामने कहकर भी देख लो। इस पर भी न समझे, तो अपना सिर खाय।

इस मंशा से वह मरदाने बैठक में गए और जब वहाँ गंगा को न पाया, तो नौकरों से पूछा, परंतु किसी ने साफ उत्तर न दिया। यह देखकर और भी जल-भुन गए और बिगड़कर नौकरों से कहा—"अबे नमकहरामो, दुष्टो, हमने तुमको इसीलिये रक्खा था कि हमीं को धोखा दो? जो तुम समझते हो कि न बतलाने से मेरी भलाई है, वह मैं अच्छी तरह जानता हूँ। इसमें तुम मेरे मित्र नहीं बल्कि शत्रु कहलाओगे। अभी मैं तुम लोगों को हुक्म देता हूँ कि या तो उसका ठीक पता बताओ, या अभी बोरिया-बिस्तर उठाकर मेरे घर से बाहर हो जाओ। हम बिना नौकर रहेंगे, पर ऐसे नमकहराम नौकर नहीं रक्खेंगे। मैं जानता हूँ कि गंगा की आदत तड़के उठने की नहीं

है। ज़रूर है कि तुमने उसको जगाकर कहीं टाल दिया है। मैं फिर से एक बार चेतावनी देता हूँ कि उसका ठीक पता बता दो, नहीं तो अच्छा न होगा।" यह सुनकर जितने नौकर थे, सब थर्रा उठे। उनमें से जो सबसे वृद्ध और बुद्धिमान् था, वह हाथ जोड़कर बोल उठा—"सरकार, हम आपके नौकर ठहरे, जो आप चाहे करें, हम किसी तरह अपने कर्तव्य से टलनेवाले नहीं। हम जब आपसे सच-सच कहते हैं कि कल जब छोटे सरकार भीतर हवेली में चले गए, तब हम लोग अपनी-अपनी जगह सोने गए। भीतर पूछा जाय, तो ठीक पता चल जाय। आगे सरकार मालिक हैं, जो सज़ा चाहें दें, हम सिर तो झुकाए खड़े हैं।"

यह सुनकर शिवदत्तजी घर में गए। इंदुमती इस समय जलपान की तैयारी कर रही थी। पतिदेव को आते देख सामने आ प्रणाम कर खड़ी हुई। शिवदत्त ने उससे पूछा—"क्यों, श्यामा गई?"

इंदु०—कभी की गई। अब तक तो घर भी पहुँची होगी।

शिव०—और दूसरी पालकी किसकी थी?

इंदु०—तुम्हारी ज्येष्ठ सुपुत्री सुर्जीदेवी की।

शिव०—मनकर गई या बिगड़कर?

इंदु०—कुछ मनकर, कुछ बिगड़कर।

शिव०—यह क्या ?

इंदु०—ईश्वर श्यामा को सुखी रक्खे, उस बेचारी ने बहुत कुछ समझाया और आधी रात तक अपना सिर खाली किया। उसके कहने से उसने क्रोध तो शांत किया, भोजन भी किया और लड़के को भी लिया। यह तो उसका मनना था। बिगड़ना यह कि सबेरे बेआज्ञा लिए, बेकहे डोली में बैठ, चल दी। मैं इधर श्यामा से बातें कर रही थी, उसे जाते तक भी न देखा।

शिव०—खैर, ईश्वर ने इनसे तो पिंड छुड़ाया, अब रहे ज्येष्ठ सुयोग्य सुपुत्र, कहो वह कहाँ हैं ? जितने हैं छोटे-बड़े सब कानों पर हाथ धरे यही कहते हैं कि "हमें नहीं मालूम।" कब से गायब हैं ?

इंदु०—सूर्यास्त के बाद से तो बराबर मुझसे वाद-विवाद होता था। मैं उसको समझाती रही। इसी में तुम्हारा पत्र पहुँचा, उसको पढ़ा। इतने में श्यामा की सवारी आ पहुँची। मैं उससे बातें करने लगी। फिर लोगों को भोजन कराया। इसमें कोई पहर-डेढ़ पहर रात चली गई। सोने को जो गई, तो देखा कि मकान खाली पड़ा है।

शिव०—लेकिन मैं तुमसे पूछता हूँ कि इसमें किसका दोष है—मेरा या उसका ?

इंदु०—दोष तो इसमें उसी का है। तुमने तो एक छोड़ दो-दो बार बुला भेजा, पत्र लिखा। बस हद हो गई। नर्मदा ने कितना समझाया, मैंने बहुत कुछ कहा-सुना, परंतु वह अपनी कविता के आगे भला काहे को किसी की सुनने लगा? आप-के पास जाने की हामी तो उसने भरी ही नहीं। मैंने कहा था कि भोजन इत्यादि से छुट्टी पाकर फिर उसके साथ माथा लड़ाऊँगी। परतु यहाँ विचार-ही-विचार रह गया और वह चलता हुआ। कोई क्या करे, अपनी-अपनी किस्मत, अपने-अपने भाग्य।

शिव०—जिस प्रकार इस दुष्ट ने मेरे साथ बर्ताव किया है, उसका दसवाँ हिस्सा भी सुर्जो ने तुम्हारे साथ नहीं किया।

इसके पश्चात् उन्होने अपने मझले बेटे नर्मदा से कहा—"भला तुमने उसके बिछौने या किताबों मे तो देखा होता, शायद वह कुछ लिखकर रख गया हो।"

नर्मदा—यह बात तो अभी तक नही सूझी थी। अब जाकर उनकी चीजों को भी देखे आता हूँ। परतु मुझे बिल्कुल आशा नहीं कि वह कुछ लिख गए होंगे, क्योंकि यदि उन्हें लिखना ही होता, तो वह आपके पत्र का उत्तर न देते? दूसरे उनको ऐसा करने का मौका ही कहाँ मिला। कल शाम को इस बात की चर्चा हुई और मैं जानता हूँ कि श्यामा के

आते ही उन्होंने प्रस्थान किया। इस दर्मियान में मैं बराबर उनके पास रहा और मेरे चले जाने के बाद मा रहीं।

शिव०—परन्तु एक बार देख लेने में क्या हानि है? चलो, हम भी चलते हैं।

बाहर बैठक में आकर शिवदत्तजी ने नौकरों से पूछा कि गंगा के असबाब कहाँ रहते हैं?

नौकर—सरकार, उनके दो कमरे थे। एक तो यह दक्षिण-वाला, जिसे वह (आखिर बच्चे हो तो) "रंग-भवन" कहते थे। जब उनके दोस्त लोग आते, तो इसी में विचरते थे, इसी में खेल-तमाशे हुआ करते थे। उत्तरवाले कमरे को "विद्या-भवन" कहते थे। इसमें उनके लिखने-पढ़ने की चीजें रहती हैं।

शिवदत्तजी यह नाम सुनकर तो चौकन्ने हुए और नौकरों से कहा—"अच्छा, पहले इस शीशमहल को खोलो।" इनका हुक्म देना था कि नौकरों ने दरवाजे खोल दिए। क्या कहना था—बीच में चौकियों पर फ़र्श, उस पर दरी, उस पर सफ़ेद चाँदनी इस प्रकार से तनी हुई थी कि कहीं धब्बे या सिकुड़न का नाम नहीं। एक तरफ़ गुजरात का ग़लीचा बिछा हुआ, गाव तकिया लगा हुआ था। सामने पीकदान, किनारे में पेचवान, चौकियों के चारो ओर कुर्सियाँ, थीं तो लकड़ी की

मगर आईने के समान चमाचम। छत में पटापटी की गोट का पंखा लटका हुआ—हिलाने के वास्ते नहीं, बल्कि दिखाने के लिये—उसके बग़ल में झाड़, झाड़ों के बीच-बीच में रंग-बिरंगी हाँडियाँ। छत क्या थी, मानो आसमान का नमूना था। दीवारें तस्वीरों और दीवारगीरों से सजी हुई थीं।

शिवदत्तजी इन चीज़ों को देख सन्न हो गए। थोड़ी देर तक चुपचाप देखते रहे, बाद को एक ठंडी साँस खींचकर दिल ही मे कहा—"हाय! कितना रुपया इस पापी के पीछे मैंने व्यय किया। क्या अच्छा होता, यदि यह द्रव्य किसी परोपकार मे लगाया गया होता।"!

इसके बाद उनकी दृष्टि सामने पूरब तरफ़ पड़ी, तो क्या देखते हैं कि दो मेज़ें लगी हैं—एक पर गंजीफा, शतरंज, चौसर, ताश, खेल की चीज़ें और अरगन बाजे रक्खे थे। दूसरी पर गुलदान और इत्र इत्यादि के अतिरिक्त एक सुंदर सोने की जिल्द की मोटी-सी पुस्तक पड़ी है। शिवदत्तजी ने बड़े शौक से उसे जो खोला, तो क्या देखते हैं कि यह तस्वीरों का अलबम है और तस्वीरें भी किसी देवता, ऋषि, देश-भक्त की नहीं, मसखवा पखावजी, तान-रसखान गवैया, जगदंबा तबल्ची, छन्नू पहलवान, खिलौना भाँड़, नथुआ हिजड़ा, कारी मुहम्मदअली फक़ीर, भद्दू जुआरी, इस क़िस्म के लोगों की। अब जो इनकी नज़र

दीवारवाली तस्वीरों पर पड़ी, तो वह अलबमवाली से भी नंबर दबाए थीं। यह देखकर यह भुन गए। तुरत एक डंडा उठा सब देखते-देखते भुर्कुस कर डाला, और जो कुछ बाकी रहा, उसे आँगन में रख आग लगा दी, और नौकरों को हुक्म दिया कि अब विद्या-भवन खोलो।

इसमें अलमारियाँ थीं। उनमें किताबें तो इतनी थीं कि यदि कोई उनकी सूची बनाना चाहे, तो जल्दी न बने। परंतु किताबें भी कैसी? हिंदी, उर्दू, अँगरेजी। जिस अलमारी में देखिए, सिवा अश्लील उपन्यासों के और कुछ नहीं। जिनका नाम न लेना ही अच्छा है। पाठक स्वयं विचारवान् हैं, हमें बयान करने का कष्ट न दें, आप ही समझ लें और किसी से न कहें। देखने में तो पुस्तकें बहुत ही भड़कीली थीं, परंतु पठन-पाठन के लिहाज से जला देने के योग्य थीं। इसी तरद्दुद में शिवदत्तजी को दो पहर हो गए। कई बार दासी भोजन के लिये कह गई, परंतु इन्हें फ़ुर्सत न थी। बार-बार किताबों को उलट-उलटकर देखते और रख देते। अंत में यही तय पाया कि इनका जला देना ही अच्छा है। इस विचार का प्रवेश होना था कि सब किताबों को होलिका के समान स्वाहा कर दिया। शिवदत्तजी का यह भाव देखकर भीतर से लेकर बाहर तक हलचल मच गई।

जब गंगाप्रसाद की सारी कमाई राख में मिल गई, तब शिवदत्तजी ने घर में प्रवेश किया। उनको देखते ही उनकी स्त्री ने यही प्रश्न किया—"क्यों, जिस परचे के लिये मेहनत की जा रही थी, वह मिला या नहीं?"

पति—नहीं, परचा तो नहीं मिला, परंतु मेरी मंशा पूरी हो गई।

स्त्री—वह क्या?

पति—मुझे केवल यही जानना था कि आखिर गंगा को मेरे पास आने से रोकनेवाला कौन था? वह मुझे मालूम हो गया, और इस प्रकार मालूम हुआ कि यदि उससे भी बातें होतीं, तो भी इस तरह साफ़-साफ पता नहीं चलता।

स्त्री—आखिर मैं भी सुनूँ, वह कौन-सा कारण था?

इसके उत्तर में शिवदत्तजी ने सारा वृत्तांत पूरी तरह से कह सुनाया और कहा कि असल कारण उसके संगी-साथी हैं। यदि उसका साथ ऐसे शैतानों से न होता, तो कभी उसमें ऐसे दुर्गुण न आते। यही कारण है कि उसने ऐसी-ऐसी पुस्तकों का संग्रह किया था, जिसने सिवा उसके बिगाड़ने के और कुछ भी न किया। ऐसी पुस्तकों के पढ़ने से ही ऐसे विचार पैदा होते हैं। जब मैंने सबको भली भाँति जला दिया, तो मुझे शांति हुई।

स्त्री—परंतु मैंने तो सुना है कि काग़ज़ जलाना पाप है, और यह तो पुस्तकें थीं। लोग जो कहीं ज़रा-सा पुर्ज़ा पाते हैं, तो उठाकर माथे चढ़ाते हैं।

पति—तुम सच कहती हो, परंतु यह लोगों की ज़्यादती है। काग़ज़ भी कपड़े की तरह बेजान चीज़ है। पुस्तक वही आदर के योग्य है, जिसमे सामाजिक, धार्मिक तथा लौकिक बातें भरी हों। जिनके पढ़ने से तथा उनकी शिक्षाओं पर चलने से मनुष्य अपने लोक-परलोक दोनो को बनाता है। मैंने जिन किताबों को जलाया है, वह ऐसी थीं कि जिनका पढ़ना मानो अपने पैर मे अपने हाथों से कुल्हाड़ी मारनी है। यह न केवल भाई-बंधुओं के प्रति जो कर्तव्य हैं, उन्हीं को भुलाती हैं, बल्कि ईश्वर के प्रति जो हमारा धर्म है, उससे भी हाथ धुलाती हैं। इतना ही नहीं, बल्कि हमें सन्मार्ग से विचलित कर कुमार्ग पर चलाती हैं। जिसका यह परिणाम होता है कि "माया में दोनों छुटे, माया मिली न राम।"

स्त्री—पुस्तकों में ऐसी बुरी-बुरी बातें भी रहती हैं?

पति—पुस्तकें भी आदमी बनाते हैं; परंतु जिस प्रकार पाँचो उँगलियाँ बराबर नहीं होतीं, उसी प्रकार सबके भाव भी एक-से नहीं होते। कोई सन्मार्ग की राह दिखाता है, तो कोई कुमार्ग की ओर ले जाता है। क्या तुमने कविता का नाम नहीं सुना।

स्त्री—सुना क्यों नहीं, किताबें भी देखी हैं। मैंने तो यहाँ तक सुना है कि गंगा इसमें बहुत प्रवीण था, और मर्दों में इसके जाननेवाले की बड़ी प्रशंसा होती है।

पति—कविता बुरी नहीं। इसको बुरी बनानेवाले ऐसे-ही-वैसे लोग होते हैं, नहीं तो इसका आदर साहित्य में इतना है कि बिना इसके जाने, बिना इसमें योग्यता प्राप्त किए कोई साहित्य के महत्त्व को जान ही नहीं सकता। परंतु ऐसे लोगों ने—ईश्वर उनका भला करे—इसमें इधर-उधर के अकथनीय विचार भर-भरकर इसे अपठनीय कर दिया है। इसी कारण बहुत लोग इसकी ओर अब नहीं जाना चाहते, बल्कि यहाँ तक कि कवि पहले नरक की हवा खाता है। अब तो काव्य इसी का नाम है कि किसी की हजो कहिए (जो धर्म के विपरीत है), या उसकी यहाँ तक प्रशंसा कीजिए कि देवता से बढ़ा दीजिए। अर्थात् अनुचित प्रशंसा करनी (जिसे शास्त्र मना करते हैं), या अपवित्र शृंगार-रस के भावों को इसमें भरना (जो सदाचार के विरुद्ध है), या किसी के धर्म पर अनुचित और व्यर्थ कटाक्ष करना (जो शिक्षा के प्रतिकूल है)।

स्त्री—यह मुझको आज मालूम हुआ कि पढ़ने-लिखने की चीज़ों में भी लोगों ने ख़राबियाँ पैदा कर दी हैं।

पति—क्या तुमने आजकल के चलते उपन्यास नहीं देखे ? क्या इनके पढ़ने के लिये मैंने तुम्हें मना नहीं किया था ? ये पुस्तकें बच्चों ही को नहीं, जवानों को भी बरबाद कर देनेवाली हैं, परंतु क्या कहूँ ; इनके लिये कोई रोक-टोक ही नहीं है। दिन-पर-दिन हज़ारों छपती जाती हैं और लोग भी ख़रीदते जाते हैं। उन्हे यह खबर नहीं कि आप तो इनसे बरबाद ही होंगे, अपनी भावी संतान को भी डुबो देंगे। छोटे-छोटे बालक जब इन्हें देखेंगे, तो भला क्योंकर उनके सद्विचा[र] हो सकते है ? हाँ, यदि प्रेसवाले ऐसी पुस्तकें न छापा क[रें] और अगर छापें, तो पुस्तकालयवाले न लिया करें, या यों [हो] कि प्रत्येक शहर तथा गाँव में एक ऐसी सभा स्थापित [हो] जिसकी अनुमति के बिना कोई भी पुस्तक प्रकाशित न हो। त[ब] तो कहीं यह सिलसिला बंद हो सकता है, नहीं तो केवल हमारे जलाने से क्या होता है ? हम तो अपने मित्रों को [भी] यही सलाह देते हैं, बल्कि यदि किसी के हाथ में ऐसी कोई [भी] पुस्तक देखते हैं, तो पहले उसको समझाते हैं और उसे जला देने को कहते हैं, अगर मान गया, तो मान ही गया, नहीं [तो] उसको दाम देकर ले लेते हैं। और, यदि इस पर भी न दिया तो फिर उसके संग उठना-बैठना बंद कर देते हैं।

स्त्री—मैं अब समझी। मुझे यह मालूम होता था कि

शायद ये किताबें कठिन हैं, इसीलिये तुम इनमें व्यर्थ समय नहीं लगाने देते और छीन लेते हो।

पति—बड़ी मुश्किल तो इस बात की थी कि यदि मैं तुमसे साफ-साफ कह देता, तो अवश्य तुम्हारे दिल मे यह बात उठती कि भला देख तो लें, बुरी किताबे कैसी होती हैं। मैंने आज जो किताबे जलाई हैं, वे गालियों और वेहूदा बातों से भरी थीं। यदि मुझे इसकी पहले ही खबर होती, तो काहे को आग लगाने की बारी आती, घर में आने ही न देता।

स्त्री—मगर मेरी राय तो यह थी कि यदि जलाने के बदले नीलाम कर दी जाती, तो इनसे कुछ दाम भी वसूल हो जाते। आखिर इतना खर्च हुआ, कुछ तो मिलता। जलाने से तो सब चौपट हुआ।

पति—शायद परसाल की बात है कि इसी आँगन में एक सर्प निकला था। उसके बारे में तो सबकी यही राय थी कि इसे जल्द पकड़वाकर मरवा देना चाहिए। उसके बारे में तो तुमने यह नहीं कहा कि रहने दो, कोई सपेरा दो-चार पैसे में खरीद ले जायगा? मैंने तो ऐसी पुस्तकों के बारे में तुमसे कह ही दिया और फिर कहता हूँ कि सच मानो ये पुस्तकें उस जहरीले साँप से बढ़कर हैं। वह तो केवल शरीर ही

पर क़ब्ज़ा जमाता है, परन्तु ये तो आत्मा को काला कर डालती हैं। इन्हीं के विष ने गंगा की आत्मा में प्रवेश किया है।

स्त्री—आख़िर इस विष का कोई ज़हरमुहरा भी होगा?

पति—हाँ है, वह अपने धर्मशास्त्र की पुस्तकें; परंतु उनके पढ़नेवाला भी तो कोई हो; न कि यह कि वह प्रतिदिन एक नए सर्प से डसवाया करे और ज़हरमुहरा से भागे। फिर इसका फल सिवा नाश होने के और क्या होगा?

तेरहवाँ परिच्छेद

एकांत वासा, झगड़ा न झाँसा

अब गंगा और सुर्जी दोनो भाई-बहन का हाल सुनिए कि बाप के घर से निकलकर इन पर क्या बीती। चूँकि गंगा पहले निकला था, इसलिये इसका हाल पहले बयान करना उचित है। कई बार उसको पिता ने बुलवाया। हारकर पत्र भी लिखा। माता ने बहुतेरा मनाया। भाई ने बहुत कुछ समझाया; परंतु कुछ लाभ न हुआ। गंगा ने जब देखा कि इंदुमती श्यामा के स्वागत में लगी है, तो आँख बचा, बेकहे-सुने, घर से इस तरह निकल खड़ा हुआ कि मानो उसे घर से कुछ संबंध ही न था। शायद जाती बेर उसने यह भी न सोचा होगा कि वह घर-भर से सर्वदा के लिये जुदा हो रहा है।

यह निकलना उसके लिये नया न था। यह तो पुरानी आदत के मुताबिक़ था। इसका पहले ही से यह हाल था कि ज़रा-ज़रा-सी बात पर घर से निकल खड़ा होता और दिन-दिन-भर ग़ायब रहता। जब कोई नौकर जाकर मनाता, तब वापस आता। उस समय तो यह हालत थी कि पहले यह निकला, बाद को नौकर। कुछ दिनों तक तो यह प्रथा थी; परन्तु कुछ दिन बाद

वह नौकरों से भी न मानता। विना पिता के मनाए श्रीमान् माननेवाले न थे। इस समय जो आप घर से निकले, तो दिल में यही विचार था कि शायद पिताजी पीछे मनाने के लिये आते होंगे; परंतु यहाँ कोई भी नहीं। महाशयजी रुक-रुक जाते कि शायद कोई मिल जाय, परंतु जब कोई इनका पीछा करता हो, तब तो मिले। यह इसी आशा में अपने परम प्रिय मित्र पंडित वशीधरजी के डेरे पर पहुँचे। रास्ते में सैकड़ों वार ठहरे कि अब भी कोई घरवाला मिल जाय, पर जब पीछे देखते, तो सिवा म्युनिसिपैलिटी की लालटेन के और कोई नजर न आता।

पाठक तो इससे समझ ही गए होंगे कि अब इनका घर में कैसा सम्मान होता था। न तो अब वह पिता रहे, न अब वह माता ही रहीं। घर-भर का रंग-ढंग वदला हुआ था। मगर गंगाप्रसादजी उसी प्यार की आशा में डूबे हुए थे। जब वह बात ही न रही, तो नौकर ढूँढें क्यों, और दौड़ें किस-लिये ? यह तो आप अच्छी तरह से जानते थे कि घर में धर्म और कर्तव्य पर खूब झगड़ा हो रहा है और इसी मामले में सुर्जी ने एक थप्पड़ भी खाया है, यमुना और चुन्नी जो दिन-रात इनसे मार खाया करते थे, अब मा-बाप के दुलारे हो रहे हैं। अर्थात् जिनकी लंबी-चौड़ी इज्जत थी, अब वही गिरे हुए हैं, और जो घूरे पर के दाने थे, उनकी तूती बोल रही है।

पहले जब कभी गंगा रुष्ट होकर घर से निकलता, तो खाने, कपड़े, रुपए-पैसे के लेन-देन पर अथवा मा या भाई-बहनों से लड़ाई-झगड़े के कारण ; लेकिन इस दफ़ा धर्म की बहस थी, न लेन-देन की बाप से लड़ाई थी, न बहन अथवा भाई से। यदि ज़रा भी इस बात के समझने की बुद्धि इसमें होती, तो एक-बारगी यह घर से न निकल पड़ता ; लेकिन जैसा कि शिवदत्त ने अनुमान किया था, उस पर अश्लील कविता की फटकार थी और सिर पर शामत सवार थी। सच है, जो लड़का लड़कपन ही से माता-पिता के दुलार में पड़कर मनमाना हो जाता है, वह अपनी बुद्धि भी गँवा बैठता है।

घर से निकलकर गंगा अपने मित्र बंशीधर के यहाँ जा पधारा। बंशीधर के हाव-भाव से यह इतना भूला था कि मा-बाप से बढ़कर उनमें विश्वास रखता था। यदि उसके लिये संसार में कोई भी उसका हित-चिंतक था, तो यही बंशीधरजी थे। इनके दिखावे पर लट्टू हो गया था। कारण तो यह था कि इसमें विवेक-बुद्धि का लगाव भी न था। यह जब घर से निकला था, तो एक पैसा भी इसके पास न था। यह इस तरह बेफ़िक्र घर से निकला था कि मानो रास्ते में ख़ज़ाना मिलने-वाला है। जब यह अपने मित्र के घर पर पहुँचा, उस समय रात्रि तो अधिक न जा चुकी थी, परंतु बंशीधर-ऐसे बेफ़िक्रे

कभी की लंबी तानकर सो रहे थे। गंगा ने जो दरवाजे की कुंडी खटखटाई, तो जवाब नदारद। इस जगह पंडितजी का कुछ हाल लिख देना अच्छा होगा।

उनकी यह हालत थी कि इनके नाना (सो भी दूर के नाते से) एक सुप्रसिद्ध पंडित थे। बेचारे ने अपनी जिंदगी में पांडित्य द्वारा खूब रुपया कमाया और कुछ जमींदारी भी मोल ले ली। वंशीधर की माता इन्हीं की पैदाइश के बाद विधवा हो गई। इनका सब भार इनके नाना ने अपने सिर उठा लिया। अपने जीवन में तो इन्हें वह बहुत मानते थे, मगर उनके मरने के बाद ही उनके लड़कों ने इन्हें अलग कर दिया। एक खँडहर इनके रहने के लिये दिया और सात रुपए महीने के किराए की दुकानें पंडितजी के नाम कर दीं।

यह तो हाल था कि यह, इनकी मा और इनकी स्त्री तीन-तीन आदमी और कुल आमदनी सात रुपए की! उस पर पंडितजी की शेखी और ठाट। इन्हें इस बात की धुन थी कि यह उसी शान में रहें जैसा कि पहले नाना के समय में रहते थे। पढ़े-लिखे तो आप ठन-ठन गोपाल थे, कमाते तो कहाँ से। कोई दया करके सीधा भेज देता, तो घर का काम चलता, मगर दिन-रात यही भूत सवार रहता कि कैसे और दोस्तों से शान में बढ़ जायँ। हमेशा यही चाहते कि जमींदार

के बेटों की बराबरी करें। यद्यपि वे इन्हें मुँह भी न लगाते थे, तथापि यह निर्लज्ज जबर्दस्ती उनमें घुसता था। यह किसी को भाई, किसी को मामा बनाते थे और वे इनके इस संबंध से जला करते और दिक होते थे।

अमीरों के साथ बैठने के लिये बहुत उत्सुक हुआ करते थे। जब उन लोगों को किसी दरबार मे बैठे देखते, तो और फड़क जाते। इन्होंने अपनी तमाम आदते (दिल्ली के रिवाज के अनुसार) अमीरों की-सी बना रक्खी थीं, मगर इनका यह ठाट निवहना ही मुश्किल था। दुकानें गिर्वी होती जाती थीं। मा बेचारी बहुतेरा बकती, मगर कौन सुनता था ? बंशीधर को जब देखो, पाँवों में डेढ़ हाशियों की जूती, सिर पर दोहरी बेल की भारी कामदार टोपी, बदन में एक छोड़ दो-दो अँगरखे, ऊपर शबनम या हलकी तजेब, नीचे कोई तरहदार-सा ढाके का नेनो, जाड़ा हुआ तो बानात, मगर सात रुपए से कम नहीं। खैर, यह तो सबेरे-शाम और तीसरे पहर का शानी मखमल की आसफखानी (मुसलमानी पहिरावा है), जिसमें हरीर (एक किस्म का चिकना और कीमती कपड़ा) के अति-रिक्त गंगा-जमुनी की उम्दा बेलें टकी हुई, सुर्ख नेफा का पाय-जामा, यदि ढीले पायचों का हुआ, तो कलीदार और इतना नीचा कि ठोकर के इशारे दो-दो कदम आगे, और अगर

तंग मुहरी का हुआ, तो कहना ही क्या ! ऐसा मालूम हो कि बदन ही पर सिला है, बल्कि यों कहना चाहिए कि बदन के चमड़े के समान मढ़ा हुआ है। रेशमी इजारबंद घुटनों तक लटकता हुआ और उसमें बिना तालों की कुंजियों का गुच्छा। सारांश यह कि वंशीधर शहज़ादों के समान छैला बने बाज़ार में छम-छम करते चलते थे। यदि कभी भूले-भटके धोती पहनते, तो ख़ासी लंकाशायर रेशम के किनारे की। पंडिताई का तो आपमें लेश भी न था। यजमान के यहाँ जाते आपको लज्जा आती, तो भला किसे कुत्ता काटे था जो इनके घर आकर लाद जाता ? वही पड़ोसवाले कभी-कभी कुछ भेज दिया करते थे।

गंगा से और वंशीधर से कहीं कविता के मैदान में भेंट हुई थी। धीरे-धीरे पंडितजी गंगा के घर पदार्पण करने लगे, यहाँ तक कि अब थोड़े दिनों से दोनों में ऐसी गाढ़ी छनने लगी कि एक जीव और दो शरीर थे। गंगा को तो वंशीधर के मकान पर जाने की कभी बारी नहीं आई थी, पर इनका तो यह हाल था कि शाम को तो कभी-कभी और सवेरे बिला नागा गंगा के मकान पर पहुँचा करते थे और तमाम दिन इन्हीं के मकान पर डटे रहते थे। पंडितजी ने अपना हाल गंगा को मालूम नहीं होने दिया था। गंगा यही जानता था

कि व्यासजी (इनके नाना) की तमाम जायदाद इन्हीं को मिली है। यह व्यासजी की कोठी को इनकी कोठी, उनके नातियों के नौकर-चाकर को इनके नौकर-चाकर जानता था। इसी मिथ्या विचार में यह घर से निकलकर पंडित वंशीधर के द्वार पर जा मौजूद हुआ।

बार-बार पुकारने और कुंडी खड़खड़ाने पर दो दासियाँ दीपक लिए हुए अंदर से निकलीं और उनमें से एक ने पूछा—"कौन महाशय हैं, और इतनी रात बीते क्या काम है?"

गंगा—जाओ, पंडितजी को भेज दो।

पहली लौंडी—कौन पंडितजी?

गंगा—पंडित वंशीधरजी, जिनका मकान है और कौन?

प० लौंडी—यहाँ कोई पंडित वंशीधर नहीं हैं।

इतना कहकर दासी पट बंद ही कर रही थी कि गंगा ने कहा—"क्यों जी, क्या यह व्यासजी की कोठी नहीं है?"

प० लौंडी—है क्यों नहीं।

गंगा—फिर तुमने यह क्या कहा कि यहाँ कोई वंशीधर नहीं? क्या वंशीधर व्यासजी के वारिस नहीं?

प० लौंडी—व्यासजी के वारिसों को ईश्वर बनाए रक्खे। मुआ वंशीधर उनका वारिस बननेवाला कौन होता है?

दूसरी लौंडी—अरी यह कहीं भगवानसहाय के बेटे को न पूछते हों? वह हर जगह अपने को व्यासजी का नाती बताया करते हैं।

प० लौंडी—वाह, क्या कहना! ग़रीब का कोई बाप भी नहीं बनता और अमीर के नाती बनने को सब तैयार होते हैं। (गंगा से) क्यों महाशय, वही वंशीधर न, जिनकी गोराई गेहुँआ रंग की है। आँखें करंजी, छोटा क़द, गम्भोले-से, अपने को हमेशा सँवारे रहते हैं?

गंगा—हाँ-हाँ, वही वंशीधर।

प० लौंडी—तो महाशय, इस कोठी के पिछवाड़े उपलों की टाल के बराबर एक छोटा-सा कच्चा मकान है—वह उसमें रहते हैं।

गंगा ने वहाँ जाकर आवाज़ दी, तो कुछ देर बाद पंडितजी नंग-धड़ंग गमछी पहने हुए बाहर आए। गंगा को देख लज्जित होकर बोले—"अहा! आप हैं? क्षमा कीजिएगा। मैंने समझा कोई और महाशय हैं। मुझे कपड़ा पहनकर सोने की आदत नहीं। मैं ज़रा कपड़े पहन आऊँ, तो आपके संग चलूँ।

गंगा—चलिएगा कहाँ? मैं आप ही के पास तक आया था।

वंशीधर—फिर यदि कुछ देर तक ठहरकर मेरे घर को पवित्र करना चाहें, तो भीतर पर्दा करा दूँ?

गंगा—मैंने आज रात को आप ही के यहाँ रहना निश्चय किया है।

वशो०—अहोभाग्य! चलिए, इसी मंदिर में चलें, बड़े आराम की जगह है। मैं अभी आया। आप चलें।

गंगा ने जो मंदिर में आकर देखा, तो मालूम हुआ कि यह एक बहुत पुराना छोटा-सा मंदिर है। वह भी ऐसा कि न कोई मूर्ति है, न पुजारी, न कोई आदम, न आदमजात। हजारों चमगीदड़ें उसमें रहती हैं, जिनकी चिल्लाहट से कान के पर्दे फटे जाते हैं। बीट इतनी पड़ी है कि खरंजे का फर्श बन गया है। वंशीधर की प्रतीक्षा में गंगा को विवश उसी मंदिर में ठहरना पड़ा। वह आए भी, तो इतनी देर के बाद कि गंगा निराश हो चुका था।

इसके पहले कि गंगा शिकायत करे, वंशीधर स्वयं बोल उठे—"क्या करें, आजकल मेरे ऊपर ईश्वर का ऐसा कोप है कि जरा भी चैन नहीं। घर में धड़कन की बीमारी ऐसी फैली है कि इसके छूटने की कोई आशा नहीं। अभी जो मैं आपके पास से गया, तो उनको बेहोश पाया। इसी कारण देर हुई। पहले यह तो बताइए कि इस रात को आपने दास पर जो इतनी अनुग्रह की, इसका कारण क्या है?"

इसके उत्तर में गंगा ने आदि से अंत तक सब वृत्तांत कह सुनाया।

वंशी०—फिर अब क्या इच्छा है ?

गंगा—सिवा इसके कि (घर लौटकर जाने का विचार तो है नहीं) जो आपकी सलाह हो।

वंशी०—बात ही क्या है ? आपका घर ही ठहरा, रात को यहीं आराम कीजिए, सवेरे फिर जैसी राय होगी, देखी जायगी। आप ठहरें, मैं अभी बिछावन लेकर आया। और मुझे कृपा कर आज्ञा दीजिए कि मैं जाकर बीमार की सेवा और सुश्रूषा का प्रबंध करूँ, क्योंकि आज ज़रा वेग अधिक है।

गंगा—क्यों भाई, यह क्या बात है ? तुम तो कहा करते थे कि मेरे पास कई कोठियाँ हैं, बाग़-बग़ीचे हैं, घोड़े-गाड़ी, मोटर इत्यादि हैं। मेरी समझ में तो आराम की कोई ऐसी वस्तु बाक़ी न थी, जिसे तुमने अपनी मिल्कियत न बताई हो, परंतु सब तो सब, यहाँ मैं यह देखता हूँ कि एक आदमी के सुलाने की जगह तुम्हारे पास नहीं है। जो-जो बातें तुम कहा करते थे, उनसे तो साबित होता था कि व्यासजी की तमाम जायदाद तुम्हीं को मिली है। परंतु उसका एक कण भी तो मैं तुम्हारे हिस्से में नहीं देखता हूँ।

वंशी०—मुझे यह देखकर कि आज आप मेरी बातों को बनावटी और झूठी गप समझते हैं, बहुत ही आश्चर्य हो रहा है। इतने दिनों की दोस्ती में आपने मेरे स्वभाव तथा प्रकृति को

न पहचाना? बड़े दुःख की बात है! भला दूसरा कोई ऐसा गुमान करता, तो एक बात भी थी, मगर यहाँ आप स्पष्ट ऐसा कह रहे हैं। सच कहिए, आज आपने भंग तो नहीं पी ली है?

गंगा—अजी भंग क्या? रोज़ तो पीता भी था, आज तो वह भी नहीं मिली।

वंशी०—फिर कारण? क्या आप मुझसे दिल्लगी कर रहे हैं? नहीं-नहीं, सच कहिए।

गंगा—कैसी दिल्लगी और किससे दिल्लगी? मुझे इस बात की शंका हुई, इसी से ऐसा पूछा।

वंशी०—ओ, यह बात है! अच्छा, सुनिए। एकाएक जो आप यह परिवर्तन देखते हैं, इसी से पता चल सकता है कि इसमें कोई गूढ़ भेद अवश्य है। बात यह है कि व्यासजी ने सब कुछ मुझे ही सौंप दिया था। इस बात को तो इस शहर-वाले सभी जानते हैं। नाना के मरने के बाद लोगों ने मेरे साथ छेड़-छाड़ करनी शुरू की। मेरे स्वभाव को आप जानते ही हैं कि झगड़ों से मैं कोसों भागता हूँ। असभ्य लोगों का संग देखकर मैं किनारा खींच गया, क्योंकि आप जानते ही हैं, एकांत वासा, झगड़ा न झाँसा। लेकिन जब उन लोगों ने देखा कि बिना मेरे इतना भारी कार्य सँभालनेवाला नहीं, तो मेरे

पैरों पड़ रहे हैं और इसी उद्योग में हैं कि किसी प्रकार से मुझे ले चलें।

गंगा—परंतु आपने अभी तक इसकी चर्चा भी नहीं की थी?

वंशी०—यदि मैं आपसे अथवा किसी से चर्चा करता, तो इसमें मेरी कमहिम्मती जाहिर होती। खैर, इस बात को चूल्हे मे डालिए। फिर देखा जायगा। अब आपको खड़े रहने में कष्ट हो रहा है, आज्ञा दीजिए, मैं जाकर बिछावन ला दूँ और बीमार की भी खोज-पूछ करूँ।

गंगा—खैर, जब आ गया, तो विवश हूँ। पहले इतना तो कीजिए कि कृपा कर एक दीपक तो भेज दीजिए। अँधेरे के कारण जी और भी घबरा रहा है।

वंशी०—दिया क्या, मैं तो लैंप जलाने जाता था, लेकिन बात यही है कि इसकी वजह से पतिंगे बहुत आएँगे और आपको इससे बड़ा कष्ट होगा। इस मकान में अबाबीलें इतनी हैं कि जब वे लैंप देखकर शोर मचाने लगेंगी, तो आपके सिर में दर्द पैदा हो जायगा, और फिर नींद भी नहीं आने की। थोड़ी देर ठहरे, अभी चाँद के निकलने से सारा अंधकार दूर हो जायगा।

गंगा जब घर से निकला, तो भोजन तैयार था, परंतु उस

समय यह इतना तिनमिनाया कि खाने तक की भी परवाह न की, और वे खाए निकल खड़ा हुआ। वंशीधर से मिलने के बाद वह इसी आशा में था कि जब पंडितजी स्वयं इस बात को छेड़ेंगे, तो कह दूँगा कि मैंने अभी तक भोजन नहीं किया है। चाहिए तो यह था कि वंशीधर भोजन के लिये पूछते, क्योंकि अभी रात अधिक नहीं बीती थी। दूसरे, उसको यह मालूम हो चुका था कि गंगा घर से लड़कर निकला है। तीसरे, दोनों मे ऐसी गाढ़ी मित्रता थी कि संकोच का तो कहीं ठिकाना ही न था। परंतु यहाँ तो कुछ और ही बात थी। वंशीधर पूछते तो क्योंकर? खुद तो ठन-ठन गोपाल और बनने को व्यासजी के वारिस। अपने मन मियाँ मिट्ठू बने बैठे थे। उधर तो यह हाल था और इधर भूख के मारे इनकी अँतड़ियाँ मेघ-नाद करती थीं। जब उसने देखा कि वंशीधर किसी प्रकार से इधर नहीं आनेवाले और इसी तरह टालकर रात-भर के लिये विदा हो रहे हैं, तो बेचारे ने सब लज्जा छोड़ स्वयं ही कहा—"सुनो यार, मैंने भोजन भी नहीं किया।"

वंशी०—सच कहना? नहीं, झूठ बहकाते हो।

गंगा—तुम्हारे सिर की क़सम, मैं भूखा हूँ।

वंशी०—वाह रे तुम्हारी बुद्धि! फिर आते ही क्यों नहीं कहा। अब इतनी रात गए क्या हो सकता है? दुकानें सब

बंद हो गईं और दो-एक जो खुली भी हैं, तो बासी चीजें रह गई होंगी, जिनके खाने से तो भूखा ही रहना अच्छा है। घर में आज आग तक नहीं सुलगी। मैं देखता हूँ, भूख से तुम्हारी हालत बुरी हुई जाती है। ठीक है, इस देव के मारने के लिये, हिम्मत चाहिए। एक उपाय सूझा है। वह यह कि पनारू भड़-भूँजे के यहाँ से गरम-गरम खस्ता चने भुनवा लाऊँ। बस, एक धेले के मुझको और तुमको काफ़ी होंगे। रात का तो समय है।

अभी गंगा कुछ कहने भी नहीं पाया था कि पंडितजी जल्दी से खड़े हुए और आँख मारते चने भुनवा लाए; मगर धेले के कहकर गए थे, सो या तो कम के लाए या राह में दो-चार फंके लगाए। जब गंगा के सामने लाए, तो दो-तीन मुट्ठी से अधिक न थे।

वंशी०—यार, हो तुम भाग्य के तेज़ कि इस समय भाड़ मिल गया। ज़रा हाथ तो लगाओ, देखो कैसे भुलस रहे हैं, और सोंधी-सोंधी सुगंध भी ऐसी भली मालूम होती है कि बयान से बाहर। आश्चर्य है कि लोगों ने ख़स और मिट्टी के अतर निकाले, मगर भुने हुए चने की तरफ़ किसी की बुद्धि ही नहीं गई। वाह, हुनर भी क्या चीज़ है। इतनी रात बीत गई, मगर अभी पनारू की दुकान पर भीड़ लगी हुई है। मैंने

सुना था कि आपके शाम के जल-पान में पनारू के यहाँ का चना बिला नागा थाली में लगता था। क्या कहना, ज़रा देखिए भी तो, कैसा निपुण है कि भूनने में चने को सुडौल बना देता है! दाल बनाने में कितना पक्का है कि कोई भी दाना टूटने नहीं पाता। भला आप ही कहिए। दानों की रंगत देखिए, कोई बसंती है, कोई पिस्तई। दोनों रंग चित्ताकर्षक हैं। यों तो सैकड़ों किस्म के ग़ल्ले और फल ज़मीन से उगते हैं, लेकिन चने के स्वाद को नहीं पाते। इतना होने पर भी देखिए कि इस बेचारे दाने पर कितना अन्याय और अत्याचार होता है। जैसे ज़ुल्म इस पर होते हैं, वैसे किसी और अनाज पर नहीं। जैसे ही इसके पौदे उगे कि काट-छाँट शुरू हो जाती है। इसकी फुनगियों को तोड़कर साग बनाते हैं. यहाँ तक कि राह चलते भी लोग नोच-नोचकर खाते जाते हैं। जब कुछ और बड़े हुए, तो आदमी बकरी बनकर लाखों मन चूट चर जाते हैं। इससे बचा, तो होले होते देर नहीं। लोगों ने खाना शुरू किया। और, बचे-खुचे जब बढ़कर पके, तो इसके पेड़, को तो भैंस-बकरी के आगे डाल दिया. रहा दाना, उसको चक्की में दलें, घोड़ों को खिलाएँ, भाड़ में भूनें, बेसन बनाएँ. खौलते हुए पानी में उबालें, घुँघनियाँ गलें। सारांश, जीवन के प्रारंभ से अंत तक बेचारे पर अत्याचार

होते हैं। देखिए, वही ये चने आपके आगे उपस्थित हैं। परंतु खेद तो इस बात का है कि सब होते हुए नमक-मिर्च इस समय नहीं मिल सकते।

इसी प्रकार वंशीधर ने अपनी प्रशंसा में तलकर चने गंगा के आगे रक्खे। गंगा भूखा तो था ही, उसको यह चने और भी स्वादिष्ट मालूम हुए। वंशीधर ने घर जाकर एक मैली-सी दरी और ऐसी ही एक तकिया भेज दी। दो ही घड़ी में गंगा की सब गति बन गई, और अपनी करनी पर पछताने लगा। कहाँ तो रंग-महल में आराम करता था और कहाँ आज एक खँडहर में पड़ा है, और वह भी कैसा, जिसका कुछ परिचय ऊपर दिया जा चुका है। घर के मोहनभोग को लात मारके चला, तो पहले ही चने चबाने पड़े। अब देखिए, आगे इनकी क्या गति होती है।

न तो बत्ती है, न चारपाई ; न बहन, न भाई ; न मित्र न सहायक ; न नौकर, न चाकर ; कोई भी नहीं। बेचारा इस तरह उसमें पड़ा था, जैसे पिंजड़े में कोई नई चिड़िया या कारागृह में कोई कैदी। दूसरा कोई होता, तो ऐसी अवस्था में अवश्य चेतता, और उसी समय अपने कान पकड़ता और घर लौटकर पिता से क्षमा के लिये प्रार्थना करता। भला कौन ऐसा निर्दयी पिता होगा, जो ऐसे गिड़गिड़ाने पर अपने

पुत्र को गले न लगा ले ? मगर यहाँ तो रह-रहकर कविता सूझती थी। रात-भर में एक कवित्त तो उस मदिर पर और दूसरा वंशीधर को शान मे तैयार किया।

सुवह होते आँख लग गई, तो न मालूम वशीधरजी या मुहल्ले का और कोई चाइयाँ टोपी, जूते, रूमाल, छड़ी, तकिया, दरी, अर्थात् जो चीजें गगा के शरीर से अलग थीं, लेकर चंपत हुआ। यों भी गगा बहुत देर तक सोता था और आज तो कोई विशेष ही कारण था। कोई पहर-सवा पहर दिन चढ़े जो जागा, तो क्या देखता है कि नीचे फर्श पर पड़ा है और नींद की हालत में जो करवटें ली हैं, तो सेरों गर्द का भूत बना है और चमगीदड़ों की बीट का थोपा थोपे हुए है। हैरान हुआ और सोचने लगा कि कहीं मैं नींद में स्वप्न तो नहीं देख रहा हूँ। वशीधर को इधर देखा, उधर देखा, कहीं पता नहीं। मदिर तो उजड़ा हुआ था, उसमें पानी कहाँ ? सतोष करके बैठ रहा कि कोई इधर को आ निकले, तो उसके द्वारा वशीधर को बुलवाऊँ या हाथ-मुँह धोकर स्वय वशीधर के पास जाऊँ। इतने में दो पहर हो गई, और एक लड़का खेलता हुआ आया। वह ज्यों ही सीढ़ी पर चढ़ा कि गगा उससे अपनी इच्छा प्रकट करने के लिये लपका। वह लड़का उसको इस दशा में देख डरकर भागा। ईश्वर जाने उसने उसको

भूत समझा या खिड़ी । गगा ने बहुतेरा पुकारा, मगर उस लड़के ने पीठ फेरकर भी न देखा । विवश, बेचारा तमाम दिन भूखा रहा । जब शाम हुई, तो उल्लू की तरह वहाँ से निकला और सीधा वशोधर के मकान पर गया । आवाज दी, तो मालूम हुआ कि वह तो बड़े तड़के ही से कहीं गए हैं ; गगा ने चाहा कि अपना परिचय देकर हाथ-मुँह धोने के लिये पानी माँगे और वंशीधर की फटी-पुरानी जूती और टोपी, ताकि बाहर निकलने योग्य तो हो जाय । यही सोचकर इसने पूछा—"क्यों, आप मुझे जानती हैं या नहीं ?" अदर से आवाज आई—"हमें तुम्हारी आवाज नहीं पहचानती, अपना नाम और पूरा पता बताओ, तो मालूम हो ।"

गगा—मेरा नाम गगाप्रसाद है । मुझसे और वंशीधर-जी से घनिष्ठ मित्रता है । बल्कि मैं रात को पंडितजी के कहने से ही उस मंदिर मे ठहरा था ।

घरवाली—वह दरी और तकिया कहाँ है, जो रात तुम्हारे सोने के लिये भेजी गई थी ?

तकिया और दरी का नाम सुनकर तो गंगा बहुत चकराया और अभी उत्तर देने के लिये सोच ही रहा था कि भीतर मे आवाज आई—"अरे घुरुआ, होशियार रहना; ऐसा न हो कि

यह मरदुआ ये चीजें लेकर चंपत हो जाय।" यह बात सुनकर गंगा भगा। अभी गली की नुक्कड़ तक भी नहीं पहुँचा था कि घुरुआ ने चोर-चोर करके उसे पकड़ लिया। गंगा ने पंडित वंशीधर की मित्रता की बहुत सबूते दी, मगर जबर्दस्त का लाठी सिर पर, उसने एक न मानी और पकड़कर उसे कोतवाली ले गया। कोतवाल ने सरसरी तौर पर दोनों का बयान सुना और गंगा से उसका पूरा परिचय पूछा। अब गंगा से न रहा गया। लज्जित होकर सिर नीचा कर लिया। वह कोतवाल के प्रश्न का उत्तर देना नहीं चाहता था, परंतु क्या करता, विवश हो उसको बताना पड़ा। लेकिन उसकी ऊपरी दशा ऐसी अबतर हो रही थी कि उसका सच भी झूठ मालूम होता था। कोतवाल ने सुनकर यही कहा—"जिनको तुम अपना पिता बताते हो, मैं उनको खूब जानता हूँ और यह भी मुझको मालूम है कि उनके बड़े बेटे का यही नाम है, जो तुमने अपने बयान में कहा है। मुहल्ले का पता, घर का निशान भी, जो तुमने बताया, सब ठीक; मगर गंगा तो एक मशहूर आदमी है। आज शहर में उसकी शायरी (कविता) की धूम है। तुम्हारी यह हैसियत कि नंगे सिर, नंगे पाँव, बदन पर कीचड़ थुपी हुई? मुझको बावर (विश्वास) नहीं होता। अच्छा, अब रात को क्या हो सकता है, जुर्म संगीन है। इनको हवालात में रक्खो। सुबह

हो, तो मैं इनके वालिद (पिता) को बुलवाऊँ, तब इनके बयान की तसदीक (प्रमाण) हो ।"

गंगा यह सुनकर रो दिया, और कहा—"मैं वही अभागा हूँ, जिसकी कविता की प्रशंसा आपने सुनी है । यदि आपको मुझ पर भरोसा नही, तो मैं अपनी आपत्तियो का विवरण आपको सुनाऊँ ।" कल जो रात को इसने उस मंदिर और वंशीधर पर कविता बनाई थी, कोतवाल को कह सुनाई । उस पर कोतवाल ने इतनी दया की कि दो सिपाही गंगा के साथ किए और उनको आज्ञा दी कि इनको पंडित शिवदत्तजी के पास ले जाओ । यदि वह इनको अपना फर्जंद (पुत्र) बताएँ, तो छोड़ देना, वरना वापस लाकर हवालात मे कैद रखना ।

गंगा को इस दशा में पिता के सामने आने में जैसा बुरा मालूम होता था, उसी का दिल जानता था । मगर क्या कर सकता था ? सिपाही उसको खीच-खाँचकर ले ही गए ।

चौदहवाँ परिच्छेद

मैं ही इनका अभागा बाप हूँ

शिवदत्तजी के मकान के पास ही एक शिव-मंदिर था। यह अक्सर वहाँ पूजा करने जाया करते थे। कभी-कभी जब और कुछ लोग इकट्ठा हो जाते, तो थोड़ी देर के लिये धर्म-शास्त्र की बात छिड़ जाती। आज चाँदनी रात भी थी और कुछ लोगों के एकत्रित हो जाने से शिवदत्तजी को बड़ी देर हो गई। अभी तो आपस में इधर-उधर की बातें छिड़ी थीं और कुछ उस मंदिर के जीर्णोद्धार की समस्या उपस्थित थी। दूसरी बात आरंभ भी न हुई थी कि पुलिस के सिपाही गंगा को लिए वहाँ आ पहुँचे। गंगा की दृष्टि जो उन लोगों पर पड़ी (जो शिवदत्त के साथ बैठे थे), तो इसका सिर नीचा हो गया। इसका मूल कारण यह था कि गंगा सर्वदा इन लोगों से चिढ़ा रहता था। इनको नीच समझता और कहा करता कि "इन्हीं मक्कारों ने हमारे यहाँ देव-पूजन की चर्चा चलाकर घर को नाश किया है। दुष्ट चाहते हैं कि किसी तरह से इन सबको चेला मूँड़े और बैरागी बनाकर दर-दर फिरावें और आप हमारी जायदाद की कमाई खा-खाकर अमन-चैन करें।" इसी विचार से इन्हें बुरा-भला कहा करता था।

आज वही गंगा, जो इन्हें नीच और मक्कार समझता और इनके साथ बुरा व्यवहार करता था, पुलिस के हाथों में इनके सामने अभियुक्त बना खड़ा है। सच है, घमंडियों को इसी प्रकार नीचा देखना पड़ता है। गंगा की अवस्था क्या थी, वह पाठकों को मालूम ही है—न सिर पर टोपी, न पैर में जूता। दो दिन के भूखे रहने से मुँह सूखकर जीरा-सा निकल आया था, आँखें धसी जाती थीं, होठों पर पपड़ियाँ जम रही थीं, कपड़ों का यह हाल था कि ऐसे वस्त्र से नंगा होता, तो अच्छा था। शिवदत्तजी की नजर पुत्र पर पड़ी, तो ऐसा मालूम हुआ जैसे तीर कलेजे से पार हुआ। यदि पहले से शिवदत्त होते, तो न-जाने स्त्रियों के समान ढाड़ें मारकर रोते, या सिर पीटने लगते, या दौड़कर बेटे से लिपट जाते, या सिपाहियों से बेपूछे-गछे मुठभेड़ कर बैठते। ईश्वर ही जाने यह क्या करते। परन्तु अब शिवदत्त ज्ञानवान् और सुशील हो गए थे। पुरानी बातों में से एक भी नहीं रह गई थीं। इसे देखकर उन्हें जो दुःख हुआ, उन्हीं का हृदय जानता था, परंतु इस दुःख को सहन किया। एक ठंडी साँस-भरी हाय तक भी नहीं की।

सिपाहियों ने उनसे गंगा के बारे में पूछा, तो उन्होंने आँखें नीची करके कहा—"पिता-पुत्र का वह घनिष्ठ संबंध है कि

मरने के बाद भी नहीं टूटता। संसार से नाता छूटता है, तब आशाएँ टूटती हैं परंतु एक पुत्र ही है, जिससे मरने के बाद भी संबंध बना रहता है : यह भारतवर्ष ही है, जहाँ ये बातें हैं कि पिता पुत्र से मृत्यु के बाद भी बहुत-सी आशा रखता है। भाइयो, जब बात ऐसी है कि मेरे कहने से कुछ लाभ नहीं, तो फिर मैं भला यह कब कह सकता हूँ कि यह मेरे पुत्र नहीं। मैं स्वीकार करता हूँ, मैं ही इनका अभागा बाप हूँ।"

सिपाही तो इतना सुनकर विदा हुए और गंगा को इन लोगों में से किसी ने हाथ पकड़कर अपने समीप बिठा लिया। शिवदत्तजी ने पुत्र से पूछा—"क्यों गंगा, मैंने कौन-सा क़सूर किया था, जो तुम्हें मेरी सूरत से घृणा हुई? तुम इस बात से इनकार नहीं कर सकते कि औलाद की मुहब्बत, उसका लाड़-प्यार माता-पिता की रग-रग में ख़ून के साथ फिरता है। जिस प्रेम के वश हो मुझे इतना करना पड़ा कि उन यम-राज के दूतों से तुमको छुड़ाया, वही प्रेम मुझे इस बात पर भी विवश करता है, करता था और करेगा कि मैं तुमको ऐसी राह न चलने दूँ, जिसमें हर तरह से तुम्हारी बरबादी हो। केवल इसी लोक के लिये ही नहीं, बल्कि परलोक के लिये भी। मैंने तुमसे नहीं कहा कि मेरे लिये कमाई करो, मेरे सुख के लिये कष्ट सहो। और, यदि ऐसा कहता भी, तो तुमको

यह अधिकार था। मैंने जिस कमाई को कहा, वह तुम्हारे ही काम आवेगी, और जिस मिहनत के लिये तुमको कष्ट दिया, वह तुम्हीं को आराम देगी। यदि रोगी के लिये सुयोग्य और दयावान् वैद्य से परहेज़ करना या किसी परदेसी को उसके हित-चिंतक से दूर रहना उचित और योग्य है, तो तुम भी मुझसे अलग रह सकते और घृणा कर सकते हो। क्यों गंगा, क्या तुम्हारी ख़ुशी मुझे सर्वदा प्रिय और तुम्हारे हित की बात पसन्द नहीं रही? अब जो तुमने मुझको अपना शत्रु ठहराया, तो शत्रुता का कारण? मैंने सुना है कि तुम मुझे सिड़ी, पागल समझते हो, तो मैं तुम्हारी इस समझ पर कुछ भी जिरह नहीं करता। मैं बावला, सिड़ी और पागल सही लेकिन यदि कोई बावला तुम्हारे मार्ग में काँटे पड़े देखकर तुम्हें सूचित करे, तो क्या उसकी बात को न सुनना, उसकी नसीहत को न मानना, उसके अनुरोध पर ध्यान न देना, यही बुद्धिमानी के लक्षण हैं? क्या इन्हीं को सुशीलता और सदाचार कहते हैं? फिर तुमको यह भी सोचना चाहिए था, और चाहिए कि आया मैं अकेला इस पागलपन का शिकार हूँ या और भी कुछ मनुष्य इस राय में सहमत हैं? गंगा, मैं तुमसे सत्य कहता हूँ कि जितने धर्मात्मा इस भूमि पर रहे हैं और जो सज्जन तथा पूजनीय मनुष्य हैं, उन सबको यही

सनक सवार है। कोई भी इससे खाली नहीं, बल्कि जिनमे इसकी अधिकता थी, वही पवित्र और साधु माने गए हैं। क्या इस बात को स्वीकार करना भी पागलपन है कि ईश्वर ने हमे पैदा किया है, सारी सृष्टि उसी को सिरजी है और उसका (यदि अधिक नहीं मानते) हम पर कुछ अधिकार है, जो हमको भोजन देता है, जो हमको जिलाता और मारता है, जो पानी बरसाता और पृथ्वी से हमारे लिये अन्न पैदा करता है, जिसने हमारे प्राण को तर और विश्रांत रखने के लिये शीतल जल और निर्मल सोते जमीन में जारी कर रक्खे हैं और हमारी आत्मा को पवित्र और सुखी रखने के लिये पावन पवन दिया है। जिसकी आज्ञा से चद्रमा और सूर्य अपने नियमानुसार निकलते और डूबते हैं, ताकि कार्य करने के लिये दिन हो और विश्राम के लिये रात्रि। जिसने संसार के मतवाले, भयकर और ज़बरदस्त जानवरो को हमारे वशीभूत बना दिया है कि उनसे हम सवारी लेते और उन पर अपना बोझ लादते, उनसे कृषि में सहायता लेते, उनके दूध से लाभ उठाते है। जिसने मनुष्य को बुद्धि दी है कि अपने हित की बातो को सोच सके, बुराइयों से बचे और आपत्ति मे इससे काम ले। जिसने हमको बात करने और बयान की शक्ति दी है। जिसके द्वारा हम अपने सुख अथवा दुःख को दूसरों से कहते और एक दूसरे से आ-

पत्तियों में हाथ बटाने के लिये प्रार्थना करते हैं। जिसने ज्ञान देकर प्रत्येक मनुष्य को पृथ्वी का राजा और सृष्टि का स्वामी बनाया है। जिसने संसार में हरएक को उसके सुख और आवश्यकतानुसार चीजें दी हैं। यदि सारे वृक्षों की लेखनी बनाई जाय और सातों समुद्र का पानी स्याही की जगह काम में लाया जाय और पढ़े-लिखे लोग जितने सृष्टि के प्रारंभ से अब तक हो चुके और अब मौजूद हैं और भविष्य में पैदा होनेवाले हैं, सब-के-सब मिलकर उसकी प्रशंसा, उसका गुणानुवाद, उसके उपकार, उसके प्रसाद प्रलय तक बैठे लिखा करें, तो घिसते-घिसते वृक्ष चुक जायँ, समुद्र सूख जायँ और लिखनेवाले थककर बैठ रहें, मगर उसके उपकार के करोड़वें हिस्से की भी कृतज्ञता उचित रूप से नहीं अदा कर सकते।

"गंगा, मृत्यु एक ऐसी वस्तु है, जिससे इस संसार में कोई भी वंचित नहीं, और न इसका उपाय ही संभव है। हैज़े की आपत्ति को टले एक वर्ष भी नहीं बीता, तुम्हारे देख कैसे-कैसे हट्टे-कट्टे, मजबूत, चलते-फिरते, अमीर-गरीब, पंडित-मूर्ख, भले और बुरे सभी तरह के सैकड़ों, दस मौत के निवाले हुए। गंगा, बुद्धिमान् वही है, जो इस बात को समझे और इसको जानता हुआ अपने धर्म पर डटा रहे। मनुष्य को जो इतनी प्रभुता मिली है, इससे यही अनुमा

किया जाता है कि इस पर बहुत-से भार हैं और यह बहुत-से कामों का जवाबदेह भी है। यदि इसका केवल यही काम होता कि पेट भर ले और सो रहे, और गरमी-सरदी से अपने को बचाए, तो इसके लिये ज्यादा बुद्धि की आवश्यकता न थी। जानवर अपने बड़े-बड़े उदर को भर लेते हैं। अतः अब उस जिम्मेदारी को मालूम करना ही मनुष्यत्व का चिह्न है।"

शिवदत्तजी की यह उपदेश-भरी बातें सुनकर उनके साथियों के हृदय में भक्ति और धर्म का प्रवाह बह चला। परंतु गंगा के हृदय मे इसका कुछ भी प्रभाव न पड़ा। भला पत्थर में भी कहीं कील घुसी है? गंगा चुपचाप सिर झुकाए बैठा रहा। उसके मौन का कारण या तो यह था कि शिवदत्तजी की बातों के बीच मे ऐसी कोई बात न मिली कि वह बोल उठता, या वह दूसरे-दूसरे मनसूबे सोच रहा था। उसका मौन होना, कोई पाप या लज्जा के कारण न था, बल्कि उस दशा की शर्मिंदगी की वजह से। जब शिवदत्तजी ने देखा कि वह हाँ या न कुछ भी नहीं कहता, तो उन्होंने गरम होकर इतनी बात कही—

"तुम्हारी मंशा क्या है? कुछ समझ मे नहीं आती। पहले तो सामने आने से भागे-भागे फिरे, जब सामना भी हुआ, तो तुम मुँह ही नहीं खोलते, मानो मैंने जो कुछ कहा, वह यों ही कहा, उससे तुमको कुछ लगाव ही नहीं?"

गंगा ने एक शब्द भी मुँह से नहीं निकाला था कि शिवदत्त के साथी, जो इसकी (गंगा की) दशा को भले प्रकार से जानते हैं और यह भी जानते थे कि वह इन्हीं सब बातों के कहने पर घर से निकल गया है, बोल उठे—"महाशय, बुद्धि और ज्ञान में गंगाप्रसाद अपनी उमरवालों से कहीं बढ़े-चढ़े हैं। आपने जो अभी शिक्षा दी, उसे इन्होंने अपने हृदय में जमा रक्खा है। यह बात ठीक है कि अभी तक यह खेल-कूद की ओर अधिक ध्यान देते थे, मगर अब आप देखिएगा कि ईश्वर की कृपा से यह अपने जीवन को सुधारकर एक आदर्श बनेंगे। आखिर इतना पढ़ा-लिखा है, तो किसलिये? आप घर को चलें, यह भी आपके साथ जायँ, कपड़े बदलें और आपकी शिक्षा पर अमल करें, जिसमें लोक-परलोक दोनों बनें।"

शिवदत्त ने फिर गंगा की तरफ़ फिरकर कहा—"अरे भाई, तुम भी तो कुछ अपनी इच्छा प्रकट करो।"

गंगा—मुझको आप इतनी आज्ञा दीजिए कि घर से अपनी ज़रूरत की कुछ चीज़ें मँगवा लूँ।

शिव०—बड़े दुःख की बात है कि इस लोक की आवश्यकता पर तो तुम बहुत ध्यान देते हो, परंतु परलोक की बड़ी आवश्यकता पर ज़रा भी ध्यान नहीं देते। ज़रूरत की चीज़ें मँगवा

लेना। ख़ुशी से घर चलो। मेरी अपेक्षा तुमको उस घर मे ज्यादा दिनों रहना है। घर तो मेरे बाद तुम्हारा ही ठहरा, मैं तो केवल नाम-मात्र को हूँ। तुम्हारी माता बहुत बेचैन हैं, छोटे-बड़े सब सोच मे पड़े हैं। मेरे जुर्म की सजा दूसरों को देना, यह न्याय नहीं है।

गगा—मुझको मालूम है, आप थोड़े दिन से धर्म और देव-पूजन के नाम से नई-नई प्रथा, नए-नए तरीके और नए-नए क़ायदे घर मे जारी करना चाहते हैं। आपके इस विचार को घर के सभी प्राणी जानते हैं। इसके विरोधी उस घर मे नहीं रह सकते। मैंने अपनी तरफ से बहुतेरी कोशिशें कीं कि मुझे आपके सामने अपनी विपक्षता प्रकट करने की जरूरत न हो, मगर आपके आग्रह ने मुझको मजबूर कर दिया, और अब विवश मुझे कहना पड़ा कि मैं शुरू से इस इंतिजाम का विरोधी हूँ। मेरा अलग होना ही मेरे विचार को जाहिर करने के लिये काफी था। मैं एक बाल के बराबर भी अपने जीवन-प्रवाह को नहीं बदल सकता। मैं जानता हूँ, मेरी इस प्रकार की बाते आपको नाराज कर देंगी; इसलिये मै आपसे क्षमा माँगता हूँ कि और कुछ कहने के लिये मुझे मजबूर न करें।

शिव०—नहीं, तुमको कहना पड़ेगा।

गगा—मैं संक्षेप ही में कह देना चाहता हूँ कि मेरा निर्वाह

ऐसे इंतिज़ाम के बीच नहीं हो सकता। इस समय तो मैं और कुछ नहीं कह सकता, मगर जब मैं दिल्ली छोड़ दूँगा, तो फिर देखिएगा। मैंने अपना सुख इसी में देखा है कि इस घर से अलग हो जाऊँ। कायदा है कि जब तक आदमी घर नहीं छोड़ता, उसकी इज्जत नहीं होती। जिस तरह मोती जब तक सीप से अलग नहीं होता, तब तक वह मुकुट में नहीं लगता। मैं जानता हूँ, इस घर में अब मेरा कुछ भी सम्मान नहीं। आप यह सोचते होंगे कि घर से निकलने के बाद मुझे भीख भी न मिलेगी; लेकिन मैं कहता हूँ, आपका यही कुपुत्र किसी राजदरबार में पहुँचकर ऊँची पदवी पाएगा। मैं ऐसा मूर्ख भी नहीं हूँ कि आप पर ना मेहरबानी का अभियोग लगाऊँ। आप वही बात कहते हैं, जो मेरे लिये लाभदायक समझते हैं, लेकिन मेरी अशिष्टता क्षमा हो, मैं अपने को शिक्षा और नसीहत से गिरा नहीं पाता। रहा घर, सो उसमें मैं केवल इसी शर्त पर चल सकता हूँ कि वहाँ चलकर आप मुझसे मेरी बातों पर बहस न करें।

शिव०—इसका यह मतलब कि तुमने मुझको पिता के दर्जे से उतार दिया?

गंगा—नहीं, आपने मुझे पुत्र-पद से दूर किया।

इसके बाद शिवदत्तजी घर में आने की इच्छा से उठे और

चाहा कि येन केन प्रकारेण गंगा को साथ लिवा ले जायँ। मगर गंगा न मालूम शिवदत्तजी के भावों को ताड़ गया कि उनको उठते देख ऐसा कूदा कि देखते-देखते मंदिर के बाहर हो गया। बाहर आकर लोगों ने देखा, तो वह बाजार के परले सिरे जा चुका था। यह देखकर शिवदत्तजी हक्के-बक्के होकर रह गए। यहाँ से भागकर गंगा न तो घर गया और न वहाँ से कोई चीज ही मँगा सका। उसी तरह उलटे पाँव फिरकर चला गया।

पंद्रहवाँ परिच्छेद

"दीवार फाँदने में देखोगे काम मेरा"

शिवदत्तजी के पहुँचते-पहुँचते यह माजरा किसी ने घर में जा कहा और बैठे-बिठाए एक कुहराम मचा दिया। इंदुमती बेचैन होकर बावलों की तरह दालान में आ खड़ी हुई, और ड्योढ़ी के बाहर आया ही चाहती थी कि इतने में शिवदत्तजी जा पहुँचे। स्त्री को दरवाजे में खड़ी देख हैरान होकर पूछा—"कहो, कुशल तो है; यहाँ क्यों खड़ी हो?"

इंदु०—(घबराई हुई) मेरा गंगा कहाँ है?

शिव०—मेरा गंगा? यदि तुम्हारा होता, तो तुम्हारे घर में होता, और तुम्हारे पिता और भाई के इतने आग्रह, इतने समझाने, इतनी मिन्नत और इतनी खुशामद पर वे कहे-पूछे घर से न चला जाता।

इंदु०—अच्छा, ईश्वर के लिये मुझे उसकी सूरत दिखा दो। मैंने सुना है, सिर से नंगा, पाँव में जूते भी नहीं हैं। उसने कभी पैर जमीन पर नहीं रक्खा था, कंकर तलवों में चुभते होंगे। वह मुए सिपाही मेरे बच्चे को पकड़नेवाले कौन थे? बुरा हो, वो ईश्वर करे उनकी आँखें फूटें; हाथ लगाया हो, वो

परमात्मा करे पोर-पोर कोढ़ टपके। वाह रे सिपाही और वाह रे कोतवाल, निछावर जाऊँ तुम्हारी बुद्धि पर! मेरा बच्चा और चोर!

शिव०—कैसी नादानी की बातें करती हो? चलो घर में चलकर बैठो, बाहर गली में तुम्हारे शब्द सुनाई पड़ते हैं। तुम्हारे इस उद्भ्रांत प्रेम ने तो औलाद को लोक-परलोक दोनो से खो दिया। अब देखें, क्या करेगा?

इंदु०—अच्छा, फिर गंगा गया तो कहाँ गया?

शिव०—कहाँ गया, इसका उत्तर देना कठिन है। मुझसे पूछकर गया हो, तो बताऊँ। नहीं मालूम वह द्रोही कहाँ था और कैसे लोगो मे था? जो बदनामी आज तक इस कुल में नहीं हुई थी, वह इस छोकरे के कारण हुई। अब मुझको शहर मे मुँह दिखाना मुश्किल है। यदि आज वह मेरा सिर उतारने आता, तो मैं खुशी से सिर झुका देता। उस समय मुझे सिर नीचा करने में लज्जा न आती और ऐसा बुरा न मालूम होता, जैसा आज इस बदनामी के कारण सिर नीचा हुआ है।

इंदु०—क्योंकर तुम्हारे हृदय ने संतोष किया? किन आँखों से तुमने बेटे को इस दशा में देखा?

शिव०—जिस तरह उसकी इस प्रतिकूलता पर संतोष किया

था कि मैंने बार-बार बुलाया और वह न आया, उसी तरह मैंने उसकी वह हालत देखकर संतोष किया और जिन आँखों से उसके रंग-महल और विद्या-मंदिर तथा पुस्तकालय की फ़ज़ीहत, बरबादी और तबाही देखी थी, उन्हीं आँखों से उसको खुले सिर, नंगे पाँव, चोर बना हुआ, सिपाहियों की हिरासत में, देखा।

इंदु०—तुमसे इतना भी न हो सका कि उसको मेरे पास तक ले आते?

शिव०—यदि मैं उसको तुम तक न ला सका, तो मुझसे पहले तुम उसको मुझ तक नहीं ला सकीं और न तुम उसको जाने से रोक सकीं।

इंदु०—कहाँ तुम पुरुष और मैं स्त्री!

शिव०—तो क्या तुम्हारी मर्ज़ी यह थी कि मैं उससे कुश्ती लड़ता?

शिवदत्तजी से इसी प्रकार की कुछ बातें हुईं। अंत में समझा-बुझाकर इंदुमती को घर में ले गए और यह बात उसकी बुद्धि में बिठा दी कि रोने और हाय-हाय करने से कुछ लाभ नहीं। अलबत्ता ईश्वर के प्रति उसके सुधार के लिये रोना-गिड़गिड़ाना चाहिए। तभी वह लौटकर घर में आ सकता है, और कोई उपाय नहीं।

इधर तो यह मामला था। उधर गंगा ने मौसी के पास जाने का निश्चय किया, परंतु उस समय तक उसको सुर्जी का हाल नहीं मालूम था। यदि कहीं मौसी के यहाँ चला गया होता, त सबसे अच्छी बात थी। उसका साथ देने के लिये सुर्जी पहले ही से वहाँ उपस्थित थी। चूँकि उसकी मौसी बड़ी विदुषी और धर्मज्ञ थीं। वही क्या, उनके घर के सभी वैसे थे। गंगा को शिवदत्तजी की बातों के मान लेने का बहुत अच्छा अवसर था; लेकिन पितृ-द्रोही और देव-द्रोही के लिये इतनी सजा बहुत ही कम है। उसका हठ ही उसे दंड देने के लिये काफी है। अभी उसके भाग्य मे बहुत-सी आपत्तियाँ थीं।

गंगा ज्यो ही गली से बाहर निकला कि गोपालराम उसको मिल गए। यह शिवदत्तजी के चचेरे भाइयो मे से थे। इनसे और शिवदत्तजी से पुश्तैनी वैर था, जैसा अक्सर पट्टीदारों में हुआ करता है। रिश्तेदारो को वजह से एक की दशा दूसरे से छिपी नहीं थी। गोपालराम सुन चुके थे कि शिवदत्तजी को धर्म-शास्त्र की धुन सवार है, जिसके कारण तमाम घर मे एक खलबली मच रही है। जो-जो कष्ट बेचारे शिवदत्तजी को इस प्रपंच मे भोगने पड़े थे, वे सब इन्हे ही मालूम थे। यहाँ जो-जो बातें होतीं, सबकी खबर उनको लगती थी। गंगा के स्वभाव से परिचित तो थे ही। गोपालराम आपस में यही

कहा करते कि "पंडित शिवदत्तजी बड़े शास्त्री और धर्मज्ञ बनें, मगर जब जानें कि बड़े बेटे को अपनी राह पर लाएँ।" गंगा को जो नंगे सिर, नंगे पाँव बीच बाजार में जाते देखा, तो गोपालराम ने छेड़कर पूछा—"क्यों गंगा, तुम अभी से वैरागी हो गए ?"

गंगा—दुनिया से नहीं, बल्कि घर से ।

गोपाल—वही तो कहता हूँ। बस, यही देख लो कि भाई शिवदत्त का अपनी औलाद के साथ और औलाद में भी तुम्हारे साथ, जो आज परमात्मा की दया से सबमें श्रेष्ठ और होनहार हो, जिस पर सबकी आस लगी हो, ऐसा बर्ताव ! हम लोग तो खैर कहने को गैर हैं। ऐसे ही खरेपन ने कुनबेवालों से मेल-मिलाप छुडाया। नहीं तो न्यायवत् हमारी उनकी क्या बाँट ? अपना खाना, अपना पहनना, लड़ाई किसलिये और झगड़ा क्यों ? इस पर आश्चर्य यह कि जैसे-जैसे इनकी अवस्था चढ़ती जाती है, स्वभाव भी साथ-ही-साथ जवान होता जाता है। भाई, हम तो तुम्हारी माता को धन्य कहेंगे कि न मालूम ऐसे तामसी और असभ्य पुरुष के साथ उस बेचारी ने क्योंकर निबाह किया ? क्या करे, स्त्री ही तो ठहरी। गंगा, तुम इस बात को सच जानना। तुम लोगों के दुःख को सोच-सोचकर भाई, हमारा तो घर-भर बेचैन रहता है। यह खून का प्रभाव है ; नहीं तो मिलना-मिलाना तर्क, आना-जाना, प्रणाम, पत्र

व्यवहार सब बंद क्या करें, कुछ वश नहीं चलता। भला फिर इस हालत से तुम जाते कहाँ हो ?

गंगा—मौसा के यहाँ जाने की इच्छा है।

गोपाल—तुम्हारे पिता के डर से देखा ही चाहिए कि वह तुम्हें घर मे घुसने दें।

गंगा—नहीं, उनसे तो ऐसी आशा नहीं है।

गोपाल—और यदि शास्त्रीजी वहाँ स्वयं मौजूद रहे, तो ?

गंगा—इसका डर तो ज़रूर है—

"दीवार फाँदने में देखोगे काम मेरा।;
जब धम से आ कहूँगा लीजे प्रणाम मेरा।"

गोपाल—मैं कह तो नहीं सकता, लेकिन समझो तो—हम तुम्हारे या शिवदत्तजी के शत्रु नहीं हैं। अरे भाई, रिश्तेदारों ही में खटपट भी हुआ करती है। किसी दूसरे से शिकायत तो नहीं करते। आख़िर हैं तो एक ही ख़ून के। जो हमको तुम्हारा और तुमको हमारा दर्द होगा, वह तुम्हारी मौसी को नहीं हो सकता। भाई शिवदत्त जब अभी हैजे मे बीमार पड़े थे, परमात्मा साक्षी है, दोनो समय मैं स्वयं मुहल्ले मे आकर ख़बर ले जाता था। हमारी माता सर्वदा दाइयों से तुम्हारे यहाँ का कुशल-मंगल पूछा करती हैं। मुझसे तो यह अपमान देखा न जायगा कि तुम इसी दशा में और कुसमय अपनी मौस

के यहाँ जाओ। चलो, रात को हमारे यहाँ निश्चितता से सो रहो। ऐसा ही होगा, तो सवेरे वहीं हो आना। लो, यह मेरा डुपट्टा, सिर तो ढाक लो, लोग आते-जाते हैं। चलो, पास-के-पास इसी छत्ते से होकर निकल चलें।

इसी प्रकार गोपालराम लल्लो-पत्तो करके गंगा को अपने घर लिवा ले गए। शिवदत्त से यह जले ही हुए थे, गगा के प्रति उनको यथाशक्य खूब खराबी बयान की। गगा ने जब से घर मे धर्म की कहानी सुनी थी, तब से क्या माता, क्या पिता, क्या भाई सबको अपनी राय के प्रतिकूल पाया। नादान गगा ने समझा कि बस, गोपालराम और उनके घरवालों से बढ़कर कोई उसका शुभचिंतक नही। अब तक तो वह केवल पिता से राय में प्रतिकूलता रखता था, परंतु अब उसको उनसे द्रोह और चिढ़ पैदा हो गई। गोपालराम ने जली-कटी बातें लगाकर यह ख़याल उसके दिल से बिल्कुल दूर कर दिया कि शिवदत्तजी को उनके धर्म ने औलाद के साथ रोक-टोक करने पर मजबूर किया है। गोपालराम के बहका देने से उसको विश्वास हो गया कि देव-पूजन और धर्म-शास्त्र का केवल एक बहाना था, नहीं तो वास्तव में इसको घर से निकाल देना ही पिता की दिली मंशा थी।

गगा इस समय दो विपत्तियों की खींचा-खींचो में था। पिता उसको सन्मार्ग को तरफ खींचता था और गोपालराम कुमार्ग और द्रोह को ओर; किंतु गोपालराम ने बाजी मार ली। इसके दो कारण थे—एक तो यह कि उन्होंने अपनी चिकनी-चुपड़ी बातें करके गंगा को लुभा लिया। दूसरे, शिवदत्त एक ऐसे रास्ते पर ले जाना चाहते थे, जिसमें निर्मलता, सरलता, शांति, आत्मत्याग, देव-भक्ति, लोभ-त्याग, नम्रता, सतोष, दिन-चर्या, निर्व्याज तथा आत्म-शुद्धि की धारणा और कष्टो का सहन था। भला यह गगा से कब निबह सकता था ? वह तो देव-पूजन ही के नाम से भागता था। भला सांसारिक सुख की अभिलाषा रखनेवाला मनुष्य क्योंकर इस शिक्षा का समर्थन करे ? विरुद्ध इसके गोपालराम उसे एक ऐसा रास्ता दिखाते थे, मानो इस सिरे से उस सिरे तक बाजार लगा है और कदम-क़दम पर सुख, विलास, स्वच्छंदता, स्वार्थ, निःशक, अंहकार, लोभ तथा माया और अनेकानेक भोग-विलास तथा विश्राम मौजूद थे। गंगा को मेले का शौक था ही, यह बाज़ार उसे बहुत ही ललित और सुहावना मालूम हुआ। अब क्या कहना है ? यह गोपालराम में ऐसा मिला, जैसे दूध मे मिश्री।

शिवदत्तजी यह ख़बर सुनकर बड़े दुखी हुए। इस कारण से नही कि गोपालराम से इनसे शत्रुता थी, बल्कि इस सबब

से कि अब जो कुछ आशा उसके सुधरने की बाक़ी थी, वह भी जाती रही। गोपालराम के यहाँ गंगा को और किसी बात का तो कष्ट न था, मगर उसकी मर्ज़ी की किताबें यहाँ नहीं मिलती थीं। तब उसने गोपालराम से कहा कि "दिन-भर ख़ाली बैठे-बैठे तबियत घबराया करती है। कविता बनाता तो हूँ, परतु वह कहाँ तक दिल बहलावे, इसलिये यदि आप आज्ञा दें, तो घर से अपनी कुछ किताबें मँगवाऊँ।"

गोपाल—मुझको भाई शिवदत्त से आशा नहीं कि वह तुम पर इतना भी अनुग्रह करें, ख़ासकर इस दशा में जब कि तुम मेरे घर हो। मेरे नज़दीक तो वह इसे बड़ा भारी पाप समझेंगे। मगर हाँ, अपनी माता से कहला भेजो; उनका बंश चलेगा, तो उठा न रक्खेगी।

गगा को तो यही तरद्दुद था कि कैसे किताबें मँगवावें, मगर गोपालराम-ऐसे चतुर और मक्कार हितचिंतक के रहते हुए उसे कष्ट किस बात का है? चट बोल उठे—"गंगा, यह कौन-सी कठिन समस्या है? मुझसे कहो, तो भाई शिवदत्त की चारपाई उठवा मँगाऊँ और उनको कुल-देवी को भी ख़बर न हो।"

सारांश, गोपालराम शिवदत्त के घर गए और किसी ढब से सारा हाल मालूम किया, और वह आग जो शिवदत्तजी

ने गंगा की किताबों में लगाई थी, गोपालराम ने गंगा से जा लगाई। एक तो पहले ही से भुना था, दूसरे इस आग ने जो काम बाक़ी था, उसे भी पूरा कर दिया। इस खबर से उसके हृदय मे वह असर हुआ, जो द्रौपदी को भीष्म के अग्नि-बाण चलाने की प्रतिज्ञा से हुआ था। सुनते ही थक-सा हो गया; मानो उस पर वज्रपात हुआ। होश में आया, तो ऐसा कटकटाया कि यदि शिवदत्त उस समय उपस्थित होते, तो उनका रक्त पी लेता। कोई बुरी-भली बात उसने उठा न रक्खी। मगर लाल-पीला होकर शांत हो रहा, और यह प्रतिज्ञा की कि इसका बदला बाप से अवश्य लूँगा। गंगा के बदला लेने के प्रबंध बिल्कुल असभ्य थे। जब उसने अपने उपाय गोपालराम को सुनाए, तो उन्होंने सबको काट दिया और कहा कि "अभी तुम निरे बच्चे हो, मैं तुमको वह उपाय बताऊँ, जिससे साँप मरे, लठिया नहिं टूटे।"

गंगा—वह क्या ?

गोपाल—गाँवों पर तुम्हारा नाम चढ़ा हुआ है, उन पर क़ब्ज़ा करो।

गंगा—यह सब ख्याली पुलाव है, भला जब उनके कारिंदे वहाँ मौजूद हैं, तो हमारा वश कहाँ चले ?

गोपाल—गाँव तुम्हारा, नौकर और कारिंदे तुम्हारे।

गंगा—लेकिन मैं तो बराय नाम हूँ।

गोपाल—इसका सुबूत ?

गंगा—सुबूत यही कि उनके रुपए से गाँव खरीदा गया है और उस पर उनका दख़ल है।

गोपाल—उनका क़ब्ज़ा तुम्हारा क़ब्ज़ा है और उनका रुपया तुम्हारा ही ठहरा। बेचनेवाले ने तुम्हारे नाम से रसीद दी है, गाँव में पट्टा क़बूलियत तुम्हारे नाम से होता है, सरकारी मालगुज़ारी तुम्हारे नाम से स्याहा होती है।

गंगा—जब केवल नाम-मात्र के लिये मैं ख़रीदार हूँ, और मेरा कुछ भी उस पर क़ब्ज़ा नहीं, तो मेरा होना-न-होना सब बराबर है। मेरी समझ में यह बात नहीं आती कि मेरा दख़ल क्योंकर हो सकता है ?

गोपाल—महाशय, यह कविता नहीं है, इसे दुनियादारी कहते हैं। जब तुम इतनी-सी बात से जी चुराते हो, तो क्या घर से निकले ? घर में सुग्गे के समान पले रहते ? चार बातें प्रति दिन सुना करते। बिगड़ा ही क्या जाता था ? यदि कहीं यह बात मेरे साथ होती, तो सैर दिखाता।

गंगा—मान लीजिए कि मेरी जगह पर आप ही हैं।

गोपाल—कैसे मान लूँ, जैसे बराय नाम तुम्हारा नाम है, वैसे ही मेरे नाम से बैनामा लिखिए, तो बताऊँ भी।

गंगा—भला मेरे लिखने से होता ही क्या है ? यदि कुछ लाभ हो, तो कहिए, सब कुछ लिख दूँ । आपने इस समय जो नेकी मेरे साथ की है, वह क्या कोई करेगा ?

गोपाल—भला गाँव तुम कितने पर बै करोगे ?

गंगा—जब फ़र्ज़ी गाँव बेचना है, तो फ़र्ज़ी क़ीमत भी रख लीजिए ।

गोपाल—भला उसका अंदाज़ा भी ?

गंगा—मान लीजिए कि सौ रुपया ।

गोपाल—मुझसे हज़ार नक़द लीजिए ।

गंगा—सच ?

गोपाल—सच ।

गंगा—लीजिए, बेचा ।

अब क्या था, गोपालराम ने घर में जा हज़ार रुपए का तोड़ा निकाल गंगा के आगे रख दिया । उधर रुपए गिने गए और इधर बैनामा लिख-पढ़कर तैयार हुआ । गंगा ने सोचा, चलो अच्छा बैठे-बिठाए रुपए हाथ लगे, मगर फिर दिल में सोचने लगा कि कहीं यह हमसे वसूल न करे ? यही सोच-विचारकर निश्चय किया कि अब यहाँ से चल दो, इसी में भला है । झट रुपयों का थैला उठा चलता हुआ । तुरंत आकर चाँदनी चौक में एक बड़ा मकान किराए पर ले लिया । अब

क्या था ? दोस्तों के नाम नवेद भेजे । फिर चारो ओर से दोस्त आ जुटे । उसी में निर्लज्ज वंशीधर भी मौजूद थे । गंगा को इतने धोखे के बाद भी कुछ न सूझो । देखते ही उठ खड़ा हुआ गले लगा गद्दी पर बिठाया।

जिस प्रकार से गंगा ने दो महीने बिताए, उसका यहाँ न कहना ही अच्छा होगा । तीसरा महीना शुरू भी न होने पाया कि हजार तमाम हुए । बजाज, दर्जी, हलवाई, मेवाफ़रोश, गंधी, बिसाती इत्यादि का हिसाब गिरा । नौकरों का दो महीने का रुपया चढ़ गया । अब आटा-दाल तक उधार आने लगा । धीरे-धीरे चारो ओर से नोच-चोथ शुरू हुई । बेचारा दे तो कहाँ से ? पैसा पास नहीं । पहले तो सकोच-वश किसी से न कहा, मगर जब न रहा गया, तो अपने मित्रों से सब बात कह सुनाई । इस बात के सुनते ही सब-के-सब फ़ुर हो गए, अब बुलाए भी न आते, नजर छिपाकर चले जाते । अब चीजों के बिकने की बारी आई । नौकर घर बैठ रहे । महीना न मिलने से ऐसे निडर और मुँह-जोर हो गए कि काम तो अलग रहा, फट जवाब दे बैठते । जो जिसके तहवील में था, वही उसका मालिक बन बैठा । कोई समय ऐसा न जाता, जब दो-चार क़र्ज़दार उसके दरवाज़े पर न रहते हों ।

गंगा ने चाहा कि चुपके से चल दें । परंतु उसके बगाली

दुश्मनों (नौकरों) के कारण उसका मनसूबा खुल गया। वह पहर-रात गए, नौकरों का भेष बनाकर, बाहर निकला ही था कि दीवानी कचहरी के सिपाहियों के पंजे मे जा फँसा। अब इस बिगड़े-दिल को मालूम हुआ कि इस पर कई डिग-रियाँ एकतरफ़ा जारी हैं। इन प्यादो को हिरासत में गंगा को रह-रहकर वंशीधरजी का मंदिर याद आता था। जिस मुसी-बत में उसने वह रात काटी, वही जानता था। दूसरे दिन प्यादों ने उसे हाकिम के सामने ला खड़ा किया। कचहरी के हाते में पहुँचते ही शिवदत्तजी से पहले भेंट हुई। गंगा पिता को देखकर बेअख़्तियार रो दिया, मगर प्यादों के भय और लज्जा से कुछ कह न सका।

शिवदत्तजी का कचहरी में आना इन्हीं के कारण हुआ था। गोपालराम ने उस बैनामे (जिसे गंगा ने लिखा था) पर प्रपंच खड़ा किया और दो-चार नमकहराम कारिंदों को गाँठा तथा कुछ काश्तकारों को बिगहा-पीछे दो-दो, चार-चार आने कम करके इस्तमरारी पट्टे कर दिए। दिल्ली के कुछ गुंडों को साथ ले गाँव पर ज़बरदस्ती क़ब्ज़ा कर लिया। कचहरी की बारी आई। मुकद्दमे में कुछ ऐसे पेच पड़ते गए कि बात का बतंगड़ हो गया। गंगा ने तो अपने नज़दीक एक खेल किया था, पर शिवदत्तजी को मुफ़्त में पाँच-छः हज़ार का

गाँव हारना पड़ा। इसी बखेड़े के कारण वह कचहरी गए थे कि गंगा दूसरी बार सरकारी प्यादों के हाथ में गिरफ्तार नज़र आया।

बाप-बेटे में बातचीत तो अलग रही, प्रणाम-आशीर्वाद भी नहीं हुआ। तो भी दोनो की दशा मालूम हो गई। बाप ने अभी कचहरी के हाते से बाहर पाँव नहीं रक्खा था कि बेटा बंदी-गृह में जा डटा। गगा ने बहुत कुछ कोशिशें कीं और अपनी कविता की प्रशंसा और कुल की तारीफ की, परंतु जेलख़ाने के सदस्यों ने एक न मानी और उसको ऐसा रगड़ा कि दूसरे ही दिन चीं बोल गया। उस बेकसी मे गगा को बाप याद आया। जब-जब वह अपने कर्मों को सोचता, तो उसे पिता की दया की कोई भी आशा न देख पड़ती; मगर मरता क्या न करता? बेइज़्ज़ती का ठीकरा आँखो पर रखकर बाप को एक ख़त लिखा। वह यह था—

"मुझको बड़ा आश्चर्य है कि मैं कौन हूँ और किसको पत्र लिखता हूँ! विश्वास है, इस पत्र के पहुँचने पर मुझसे अधिक आश्चर्य आपको होगा। इतनी बेअदबी, इतनी क्रूरता, इतनी निर्लज्जता, इतनी विपन्नता जो मुझ अयोग्य, कुपुत्र, दुष्ट, कलंकित, धर्म-च्युत, कृतघ्न से हुई—मैं क्या, कोई भी नहीं कह सकता कि मेरा आपके प्रति पौत्रिक

संबंध बाक़ी रहा ? न तो यह पत्र पत्र है, और न पुत्र की ओर से है। फिर न पिता के नाम है, बल्कि यह एक नारकी का रोना है। पश्चात्ताप का इज़हार है। एक प्रत्याशा-रहित निंदनीय और कुपात्र का एक प्रतिपालक, दयानिधान, धर्मिष्ठ, सर्वगुण-संपन्न के प्रति रोना है। अपनी ज़रूरत के लिये थोड़ी-सी भीख की पुकार है। अपनी बेहयाई का इक़रार है।

"मेरा अपमान इतना हुआ कि जब से मैंने घर से असहयोग किया, तब से दर-दर भटकता और घृणित होता रहा और अब भी इसी मुसीबत में फँसा हूँ। लेकिन यह समझना कि मैंने जैसा किया वैसा पाया, मिथ्या और बेजा है। किया हज़ार तो पाया एक, किया मनों तो भुगता छटाँक, बल्कि एक छटाँक भी नहीं, इससे भी कहीं कम। मैं ईश्वर से बहुत प्रार्थना करता हूँ, उसके प्रति बहुत गिड़गिड़ाता हूँ, परंतु मेरे चित्त को शांति नहीं होती। कारण, जो कुछ मैं इस समय करता हूँ, वह दुःख और संकट की वजह से। यदि पहले ही से यह सोचा होता, तो आज क्यों इस बला में आ फँसता ? मैंने आपका बड़ा अपराध किया। आपका कहना न मानने का फल भोग रहा हूँ, और न-जाने कब तक भोगना पड़ेगा। अब मुझ दीन पर दया कीजिए। मैं आपसे बहुत शर्मिंदा हूँ। परंतु लाचार होकर आपसे क्षमा चाहता हूँ। मैं इसके योग्य

तो कदापि नहीं, परंतु मुझे आपकी दया पर पूरा भरोसा है। आपने बहुतों की सहायता की है। मुझ दुखिया को भी पार लगा दीजिए। इस समय केवल सात सौ रुपए के कारण यह दुःख भोग रहा हूँ। यदि कल तक यह रुपया जमा न हो जायगा, तो मेरी बुरी गति होगी। फिर कोई भी मेरा जीते-जी मुँह न देखेगा। कृपा कर मुझे इस संकट से छुड़ा दीजिए। यदि यों नहीं, तो कर्ज़ के रूप में दीजिए। मैं आपकी नौकरी करके भर दूँगा। अब से मैं आपका पुत्र नहीं, बल्कि नीच-से-नीच नौकर हूँ। जो आप कहेंगे, मैं अवश्य करूँगा। जिसकी शपथ चाहिए, मुझसे ले लीजिए। बस क्या लिखूँ, इसी से मेरे दुःख की सीमा जान लीजिए।

कुलघाती गंगा।"

गंगा कवि तो था ही, बातों का जादू बनाने के प्रयत्न में भी उसने अच्छी सफलता प्राप्त की थी। उसके छोटे-मोटे ढकोसलों पर सभा-की-सभा आकर्षित हो जाती थी। बाप के लिये इस प्रकार का लेख तैयार किया कि उसका पत्र मानो सात सौ रुपए की दर्शनी हुंडी थी। जाने की देर थी, रुपए मिलने की देर न थी। परंतु आपत्ति तो इस बात की थी कि पत्र जाय, तो कैसे? भगवान नाम का एक सिपाही कुछ थोड़ा-बहुत पढ़ना जानता था। जब उसे पहरे से छुट्टी मिलती, तो लावनी

या कजरी इत्यादि की पुस्तकें पढ़ा करता। उसका पढ़ना तो ऐसा ही था, जैसे बंदर के हाथ में छुरा। मगर आप अपने पढ़ने पर फूले जाते और अपने को बड़ा ज्ञाता समझते। ऐसे मनुष्य को फुसलाने के लिये गगा के पास काफी सामान था। अपनी कविता द्वारा उसने इसे चेला मूड़ लिया। थोड़ी-सी मिन्नत करने पर भगवान पत्र-वाहक का काम करने के लिये राजी हो गया। मजदूरी यह तय पाई कि यह उसके लड़कों की जन्म-गाँठ के दिन बढ़िया कविता उनकी शान मे बनाकर देगा। अस्तु।

इस प्रकार से गगा का पत्र शिवदत्त को मिला। पत्र में रुपए की माँग कुछ कल-परसों की तो थी नहीं कि शिवदत्तजी जरा हिचकिचाते। पत्र पढ़ते ही तुरत उन्होंने वहीं सात सौ रुपए बेकहे-सुने गिन दिए। गंगा इस समय भी बाप से न चूका। आवश्यकता तो थी पाँच सौ की, मँगवाए सात सौ। पाँच सौ देकर तो रिहाई पाई, बचे दो सौ, उससे खड़े-खड़े परदेश-गमन की तैयारी करके उसी दिन दौलताबाद को रवाना हो गया।

सोलहवाँ परिच्छेद

जो पिता से मुँह मोड़े, वह कहीं फल-फूल सकता है ?

गंगा नौकरी की तलाश में दौलताबाद गया और फ़ौज में भरती हो गया। लड़ाई में घायल हुआ और मुरदों की तरह चार कहारों पर लदकर दिल्ली आया। दौलताबाद एक छोटी-सी हिंदोस्तानी रियासत है, जिसकी आमदनी लगभग छः लाख रुपए है। मगर एक बिल्कुल अनभिज्ञ युवक गद्दी पर बैठा। खुशामदी सलाहकार, लुच्चे मुसाहिब मौक़ा पाकर आ जमा हुए और दौलताबाद को दूसरा लखनऊ बना दिया। जहाँ-जहाँ इस ढाँचे के मनुष्य थे, सबको फ़्री-मेसन की तरह दौलताबाद की दशाएँ मालूम थीं। गंगा भी सुन-सुनकर दौलताबाद के लिये व्यग्र हो उठता। आखिर पहुँच ही तो गया। इसके पहले कि वह किसी से परिचय करे, उसने धर्मशाले में उतरकर अपना पेशा (कविता) आरंभ कर दिया। फिर क्या था, लोग आने लगे और इसकी बड़ी प्रशंसा हुई। परंतु कार्य यहीं तक होकर रह गया। भला, जो पिता से मुँह मोड़े, वह कहीं फल-फूल सकता है ?

इसके आने के पहले ही यहाँ का प्रबंध ऐसा बिगड़ा कि इसकी ख़बर रेज़ीडेंट साहब को पहुँच गई। उन्होंने यह ख़बर पाते ही उस रियासत को एक कमेटी के अधिकार मे सौंप दिया, जिसमें उस रियासत के कुछ पुराने शुभ-चिंतक थे, जिन्होंने छोटे नवाब का पुरुषत्व देखकर नौकरी से हाथ खींच लिए थे। ऐसी जगह पर भला गंगा की क्या चलती ? भाग्यहीन कुएँ में भी गया, तो पानी नदारद। इसने बहुत दौड़-धूप की, परंतु कुछ लाभ न हुआ। एक दिन किसी के कहने से यह बेचारा कमेटी के सिक्रेटरी के पास गया और नौकरी की दरख़्वास्त की। यह कवि तो था ही, अपनी प्रशंसा और साथ-ही-साथ सिक्रेटरी का गुण-गान ख़ूब मज़े में किया, परंतु इससे होता ही क्या है। वहाँ कवि की क्या ज़रूरत ? इन्होंने सिक्रेटरी से बहुत कुछ आग्रह किया, तो ज़रा इनकी तरफ़ होकर पूछा—"क्यों कविजी, आप मुहर्रिरी का काम कर सकते हैं ? काम और कुछ नहीं, केवल लिखने का काम है। यदि यह आपसे हो सके, तो मैं आपको नौकरी दे सकता हूँ। दफ़्तर में एक जगह ख़ाली है।"

गंगा—महाशय, यह काम तो लाला-जाति के लिये रहने दीजिए। मैं तो ब्राह्मण हूँ, मुझे इससे क्या काम ? कविता में मैं निपुण हूँ, इस मैदान में आप जहाँ कहिए, मैं काम करने को तैयार हूँ।

सिक्रेटरी—कविजी, अब वह जमाना निकल गया। अब तो कवियों को कोई एक कौड़ी महीने पर भी नहीं रक्खेगा। यदि यह काम आपको स्वीकार हो, तो करें, नहीं तो कृपा कर आप अपने स्थान को सिधारें।

गंगा—क्या यहाँ ब्राह्मणों का कुछ भी आदर-सत्कार नहीं?

सिक्रेटरी—बस, यहीं तक सत्कार है। यहाँ तो ऑफ़िस के काम से काम, चाहे कोई भी जाति या वर्ण का हो।

गंगा—तो क्या सब जाति के लोग बराबर कुर्सी पर बैठते हैं?

सिक्रेटरी—बराबर क्या, यदि कोई शूद्र ऊँचे पद के योग्य होगा, तो उसे ऊँची कुर्सी दी जायगी। मैंने तो आपसे कह दिया कि यहाँ जात का भेद नहीं है। यहाँ तो यह देखा जाता है कि कौन किस काम के योग्य है।

गंगा—भला यह क्योंकर मालूम होगा?

सिक्रेटरी—उसके प्रमाण-पत्र से।

गंगा—चाहे वह उस योग्यता को प्राप्त हो या न हो?

सिक्रेटरी—यह बात काम करने पर देखी जाती है।

गंगा—और यदि योग्यता अधिक हो और कोई प्रमाण-पत्र न हों, तो?

सिक्रेटरी—उसकी कुछ भी पूछ नहीं।

इसी तरह की कुछ बातें हुईं, अंत में बेचारा निराश होकर लौटा। गंगा देखने में बड़ा सुंदर जवान था। शरीर भी खूब गठा हुआ था। दूसरे दिन यह तैयार होकर फौज के अफ़सर के पास गया। यहाँ तो इसकी किस्मत खूब लड़ी। सिपाहियों की अधिक ज़रूरत थी। इसके जाते ही नौकरी मिल गई। ज़्यादा इधर-उधर इसे नहीं करना पड़ा। अब क्या था, आप सिपहसालार बने फिरा करते थे। एक बार ऐसा हुआ कि किसी ज़मीदार ने मालगुज़ारी देने में देर की। उससे मालगुज़ारी वसूल करने के लिये कुछ सिपाही भेजे गए। इनमें गंगा भी था। वहाँ बातों-ही-बातों में लट्ठ चल गए। नौबत गोली तक की पहुँची। इसी मार-पीट में बेचारे गंगा के दाहने पैर में गोली लग गई। गोली का लगना था कि कविजी महाराज धड़ाम से गिर पड़े। किसी तरह लोग टाँगकर अपने खेमे में लाए, वहाँ से यह अस्पताल भेजे गए। डॉक्टर ने कहा—"अब इस पैर के अच्छे होने की आशा नहीं। इसमें इनके जान जाने की भी संभावना है। जान उसी हालत में बच सकती है, जब इनका पैर काट दिया जाय।"

यह सुनते ही इसके होश उड़ गए। सुख का पला हुआ भला यह तकलीफ़ क्योंकर बरदाश्त करे? उसने इससे इन-

कार किया और डॉक्टर से बड़ा आग्रह किया कि हमें घर पर भेजवा दिया जाय। बहुत कहने-सुनने पर डॉक्टर ने इसे घर भेजवा दिया। जब कहार डोली लेकर इसके घर पहुँचे, उस समय यह बेहोश पड़ा था। घर में खबर पहुँचते ही इसकी माता घबराकर बेसुध बाहर दौड़ आई और पुत्र को डोली देखकर फूट-फूटकर रोने लगी, जिसके सुनने से वहाँवालों के कलेजे हिल गए। इंदुमती ने उस बेक़रारी में जो बयान किए, उनके लिखने को हिम्मत नहीं और न क़लम ही चलती है।

शिवदत्तजी उस समय दूसरे खंड में पूजन कर रहे थे। पूजन समाप्त होने पर यह पोथी-पत्रा लपेट ही रहे थे कि एकाएक इंदुमती के रोने की आवाज़ आई। यह सुनकर यह इतना घबराए कि सब कुछ ज्यों-का-त्यों छोड़ दौड़कर बाहर आए। देखा, यहाँ कुछ और ही गुल खिला है। गंगा से यह नाराज़ तो बहुत थे, परंतु फिर भी खून के जोश ने इन्हें विवश कर दिया। बहुत रोकते-रोकते इनके भी आँखों से आँसू की धारा बह चली। पुत्र को देखते और रह-रह-कर ठंडी साँस भरते थे, मगर न कुछ बोलते थे, न चालते थे।

आध घंटे तक वहाँ की यह हालत थी कि सब-के-सब मूर्ति-वत् खड़े रहे। किसी की भी हिम्मत न पड़ती कि शिवदत्तजी से

अथवा उनके घरवालों में से किसी से कुछ कहे। अंत मे शिव-दत्तजी ने अपने को सँभाला और आँसू पोछते हुए, काँपते स्वर में इंदुमती से कहा—"मैं तुमको दुःख प्रकट करने से मना नहीं करता। तुम्हारा रोना कुछ बनावटी नहीं। इस अवस्था को कोई रोक नहीं सकता। यदि ऐसी दशा में रोने को वह रोक ले, तो उसकी जान पर आ पड़ती है। परतु तुम्हारा दुःख देख-कर मुझे इस बात का भय है कि कहीं तुम अपने पुत्र की दशा देखकर अपने धर्म से च्युत न हो जाओ। यदि संकट में पड़कर ईश्वर के प्रति मनुष्य असंतुष्ट हो जाय, तो उसका कहीं ठिकाना नहीं। क्या हम नए आदमी, और यह अनोखी मुसीबत है? जो सत्याग्रही हैं और अपने धर्म पर अटल हैं, उन्हे इससे भी बढ़-बढ़कर सकट भोगने पड़ते हैं। सत्यवादी राजा हरिश्चंद्र, प्रह्लाद, मयूरध्वज इत्यादि को देखो; कैसी-कैसी मुसीबतें उन पर पड़ीं, परंतु अपने धर्म से जरा भी नहीं डिगे। हमें ईश्वर को धन्यवाद देना चाहिए कि हम पर वैसी मुसीबत नहीं पड़ी, हमें उसकी परीक्षा के लिये वह कष्ट नहीं भोगने पड़े। बस, अब हो चुका। यह सब जो तुम देख रही हो, अपने पूर्वजन्म के पापों के परिणाम हैं। इस समय संतोष और शांति से निर्वाह करना है। यही हम लोगों के लिये शस्त्र हैं, जिनसे हम अपने दुःखो को सुख में परिवर्तित कर सकते हैं।

"इसकी यह दशा जो तुम देख रही हो, यह कुछ तो हमारे पाप के कारण हुई है और अधिकांश इसके दुष्कर्मों की बदौलत। अब इसके बचाने के लिये केवल एक ही युक्ति है। वह यह कि हम लोग ईश्वर से अपने तथा इसके लिये क्षमा माँगें, उसके प्रति गिड़गिड़ाएँ—जब तक उसकी दया नहीं होगी, तब तक न तो यही अच्छा हो सकता है, न हमीं लोग इस संकट से छूट सकते हैं। इससे बढ़कर हम लोग इसके किसी काम में नहीं आ सकते। इसमें अधिक चिंता करने की आवश्यकता नहीं। तुम्हें तो ईश्वर को धन्यवाद देना चाहिए कि तुम्हारे पुत्र के पापों का परिणाम इसी लोक में मिल रहा है। भला तुम्हीं कहो, इससे बढ़कर भाग्यवान् कौन होगा, जिसने संसार ही में अपने किए का भोग पा लिया, उसने परलोक को बना लिया। तुम निश्चय मानो, जो मनुष्य इसकी दशा को देखेगा, वह इससे ईर्षा करेगा। चलो, अधीर मत हो। संसार में सबसे निराश हो जाओ, परंतु जगत्-पिता परमात्मा से निराश न होना चाहिए। गंगा ने क्या किया ? इससे बढ़-बढ़कर पापी ईश्वर से एक बार शुद्ध हृदय होकर विनती करने से तर जाते हैं। तुम भी इसके लिये प्रार्थना करो, परंतु विश्वास के साथ।"

शिवदत्त की ये बातें सुनकर कोई प्राणी वहाँ ऐसा न

था, जिसने आँसू न बहाया हो। उनकी बातों में मानो जादू का असर था। इसने सबको अपनी ओर आकर्षित कर लिया। इंदुमती तुरत मुँह पोछकर उठ बैठी और अब दोनो में यह सलाह होने लगी कि क्या करना चाहिए।

शिव०—इस समय इसको इसी सरकारी अस्पताल में ले जाना चाहिए। वहाँ हमेशा डॉक्टर के सामने रहने से बड़ा लाभ होगा। वहाँ बागीचा है। अच्छे-अच्छे पुष्पों के वृक्ष हैं। इसका दिल भी खूब लगेगा।

इंदु०—है-है! मेरा दिल क्योंकर मानेगा? मैं भी वहीं रहूँगी, नहीं तो यहीं डॉक्टर बुलाऊँगी।

शिव०—तुम समझती नहीं हो। मैं तो रहूँगा ही। तुम्हारा रहना वहाँ ठीक नहीं। तुम्हारा हृदय बड़ा कोमल है। रोओगी और रोगी को भी रुलाओगी। यहाँ रखने के लिये जो कहती हो, वह मुनासिब नहीं। इसकी हालत बहुत बुरी है, कभी इसे डॉक्टर से अलग न रखना चाहिए।

इंदु०—अजी पड़ोसवाले वैद्यजी तो हैं ही। उन्हे यहीं रक्खा जायगा।

शिव०—यह सब ठीक न होगा। वैद्य या हकीम चीर-फाड़ में काम नहीं आते। इन लोगों ने अपनी पुरानी विद्या तो भुला दी, अब तो केवल किसी प्रकार से द्रव्य पैदा करना जानते

हैं। नहीं तो यह अच्छे-अच्छे डॉक्टरों को नीचा दिखाते। इस समय यह सब काम डॉक्टरों ही से खूब बन पड़ता है। अच्छा तो यह है कि इसे मुन्नी के घर ले चलें। वह तो अस्पताल के पास ही है। दूसरे यह कि पड़ोस ही में मियाँ ईसा रहते हैं। वह जर्राहों में इस समय बड़े अनुभवी और गुणी हैं। यश भी इस वक्त उन्हीं के हाथ में है। उनसे भी राय ले ली जायगी।

इंदुमती ने भी यह राय पसंद की। मगर आपत्ति यह रही कि वह वहाँ क्योंकर जाय—उसका समधियाना ठहरा। खैर, उस समय इसकी चर्चा न उठी। कहारों ने पालकी उठाई और ले चले। पीछे-पीछे इंदुमती के सिवा शिवदत्तजी का सारा घर-का-घर साथ चला। यहाँ से कोई छः-सात मील पर मुन्नी की ससुराल थी। कहारों ने जो डोली उठाई, तो बीच में कहीं दम भी न लिया।

उपसंहार

पाठकों को याद होगा कि मा से लड़कर, बेमिले सुर्जी श्यामा के साथ अपनी मौसी के यहाँ चली गई थी। चार महीने वहाँ रही। नेक लोगों के साथ रहने से वह भी नेक हो गई। सच है, सत्संग का यही परिणाम होता है। जिस प्रकार चंदन के वृक्ष के पासवाले पेड़ों में भी वैसी सुगंधि आ जाती है, उसी प्रकार सुर्जी भी उनके सत्संग से सुधर गई। अब उसमे अपने माता-पिता की नाराजी न देखी गई। वह फिर घर लौट आई। उनसे अपने कर्मों के लिये क्षमा माँगी। कुछ दिन रहने के बाद लोगों ने इसको ससुराल भेज दिया। ख़ुशी-ख़ुशी ईश्वर ने इसका घर आबाद किया। वही सुर्जी, जो कुछ ही दिन पहले सबसे नाक-भौं चढ़ाए रहती थी, आज सबसे विनीत भाव से बातें करती है। घर का कार-बार सब कुछ उसने अपने ऊपर सँभाल लिया है।

उसको ससुराल गए दूसरा महीना था। कहारों ने गंगा को उसके घर पहुँचाया। यहाँ इसकी यथाशक्य बहुत कुछ चिकित्सा हुई, परंतु ईश्वरेच्छा पंद्रह दिन बाद ही यह बेचारा अपने मा-बाप से हमेशा के लिये बिदा हुआ। मरने के दो दिन पहले इसने अपनी माता को भी बुलवाया था। सबके सामने इसने क्षमा

माँगी। किन शब्दों में उसने यह कहा और किस भाव से, इसे पाठक स्वयं समझ लें, क्योंकि ऐसी अवस्था में जब कि पाठकों के हृदय में उसके मरने की और उसकी स्त्री की दशा सोचकर चोट पहुँची होगी, तो भावों को दर्शाना उचित न होगा।

शिवदत्त के भाग्य में गंगा से सुख या स्वयं गंगा का फूलना-फलना देखना लिखा न था, परंतु तो भी जिस परीक्षा के लिये यह कमर बाँधे थे, वह ईश्वर ने पूरी की। इनका घर जो पाप में डूब रहा था, वह बच गया।

जिस प्रकार ईश्वर ने इनकी सहायता की, उसी प्रकार वह हम लोगों की सहायता करे—उनसे यही प्रार्थना है। इसके आगे क्या हुआ। इसके लिखने की आवश्यकता नहीं।

पाठक-वृंद, आप मुझे क्षमा करें! मैं आपको एक ऐसी जगह छोड़ रहा हूँ, जहाँ ख़ुशी और रंज दोनो का संयोग है। आप लोग इससे शिक्षा ग्रहण करें। फिर शिवदत्तजी के समान दृढ़-चित्त होकर अपने तथा दूसरों के घरों के सुधारने का प्रयत्न करें। इस समय आवश्यकता इसी की है। अब मैं आपसे विदा होता हूँ। यदि ईश्वर ने चाहा और आपने मुझे उत्साह दिया, तो फिर कहीं भेंट होगी और आपकी सेवा में नया पुष्प लेकर उपस्थित होऊँगा। इस तुच्छ सेवा को स्वीकार करें।
